

दानविचार-समीक्षा

आवश्यक निवेदन :—

प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी एवं धर्म रक्षक जैनी को दान-विचार पुस्तक के साथ-साथ दानविचार-समीक्षा की एक-एक प्रति भी अवश्य अपने पास रखनी चाहिये।

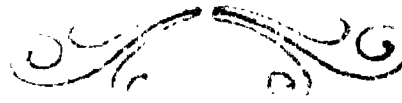
प्रकाशक—

लेखक:—

पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ।



दानविचार-समीक्षा



लेखक :—

श्रीयुत् पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ,

सूरत

प्रकाशक :—

जौहरीमल जैन सर्राफ़

दरीबा कलाँ, देहली



प्रथमवार १०००	सन् १९३३ निर्वाण सं० २४५९	मूल्य ।)

जे० बी० प्रिंटिंग प्रेस, चाँदनी चौक, देहली।

धन्यवाद :—

जिन दानी एवं स्वाध्याय प्रेमी धर्मात्माओं ने इस उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन में हमें आर्थिक सहायता पहुंचाई है हम उनके अत्यन्त आभारी हैं तथा हम उनको अनेकानेक धन्यवाद देकर अपने हृदय को सन्तोषित करते हैं।

—प्रकाशक।



धर्म-प्रेमी, समाज सेवी, कर्म-शील, सुधारक
पं० परमेष्ठीदास जी जैन, न्यायतीर्थ सूरत

नम्र निवेदन।

जब कि संसार प्रगति की ओर जा रहा है और प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने सिद्धान्तों को जगत के समक्ष रखकर उसे मुग्ध बनाना चाहता है तब जैन समाज की ठीक उल्टी गति हो रही है। इस समय जगत सत्य की शोध में है। यदि ऐसे अवसर पर विज्ञान-सिद्ध जैन धर्म को संसार के सामने रखा-जाय तो वह उस पर मुग्ध हुये बिना नहीं रहेगा। मगर जैन समाज में एक ऐसा गुट्ट मौजूद है जो अपनी विद्वत्ता को दुरुपयोग करके समुज्वल जैन साहित्य को कलंकित कर रहा है और जैनधर्म के प्रति जनता के हृदय में अश्रद्धा उत्पन्न करा रहा है।

कुछ दिन से धर्म की ओट में और धर्मात्मा के वेष में कुछ लोग ऐसे नूतन साहित्य का निर्माण और प्रचार कर रहे हैं जो जैन समाज के लिये भारी लज्जा का विषय है। श्री० क्षुल्लक (!) ज्ञानसागर जी ने इसमें काफी भाग लिया है। आपने कुछ दिन हुये चर्चासागर जैसे गोबरपंथी ग्रन्थ का प्रचार करके समाज में भयंकर विद्वेष फैलाया था। उसके उत्तर स्वरूप में चर्चासागर समीक्षा लिख चुका हूं। जो लाला जौहरीमल जी सर्राफ-देहली ने प्रकट की है। उसे पढ़कर उस गोबरपंथ और मिथ्यामय साहित्य का पता चल जायेगा जो इन लोगों ने प्रकट किया है।

"दान विचार नामक पुस्तक भी उक्त क्षुल्लक कहे जाने वाले महाशय की करतूत है। उसमें कितना अनाचार कितना स्वेच्छाचार और कैसा भयंकर शिथिलाचार भरा हुआ है यह इस 'समीक्षा' के पढ़ने से स्पष्ट मालूम हो जायगा। दान-विचार में मात्र मतद्वेष फैलाने, मुनियों के शिथिलाचार को

शास्त्र संगत बताकर उन्हें नग्न भट्टारक बनाने और आधुनिक शिक्षा संस्थाओं को कोसने आदि का खूब ही प्रयत्न किया गया है।

इन्हीं असह्य बातों से दुखी होकर मैंने यह 'समीक्षा' लिखी है। सचमुच में न तो क्षुल्लकजी से मेरा कोई द्वेष है और न उनकी कृति पर क्रोध। मगर ऐसी कृतियों से जैन साहित्य बिगड़ रहा है, धर्म पर कलंक लग रहा है और आर्ष वाक्यों का अनर्थ हो रहा है इसी लिये इनके निवारणार्थ थोड़ासा लिखा है।

वैसे तो जैनमित्र के ८-१० अंकों में "दानविचार पर विचार" शीर्षक से लेख के रूप में यह विषय मैंने लिखा ही था। मगर समाज सेवक लाला जौहरीमल जी सर्राफ देहली की आज्ञा से मैंने उन लेखों को पुस्तकाकार छपाने के लिये उनके पास भेजा था। तदनुसार आपने इसे प्रकट करने की उदारता दिखाई है। तदर्थ धन्यवाद।

जैन समाज से नम्र निवेदन है कि वह दान विचार पुस्तक को पढ़े और इस समीक्षा को भी देखे। फिर विचार करे कि क्षुल्लक जी समाज को किस ओर घसीट रहे हैं। आशा है कि इस समीक्षा से समाज लाभ उठायेगी और शुद्धागम के रहस्य को समझ कर विकृत साहित्य से सावधान होगी।

चन्दाबाड़ी-सूरत }
ता: ४-४-३३ }

आगमभक्त—
परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ।

शुद्धाशुद्धि पत्र

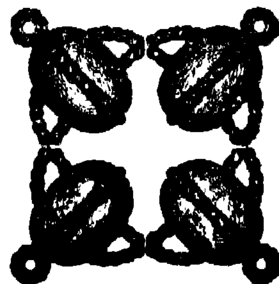
मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि यह पुस्तक बहुत ही अशुद्ध छपी है। मैं स्वयं इसका प्रूफ नहीं देख सका और प्रेस की भी असावधानी मालूम होती है। मात्राओं आदि की तो अगणित अशुद्धियां रह गई हैं जिनका उल्लेख न करके खास भूलें ही यहां लिखी जाती हैं। पाठकगण सुधार कर पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१	दानविचार पर समीक्षा	दानविचार समीक्षा
२	१३	इसके	इससे
३	२३	षूज्य	पूज्य
४	१५	मनोनीति	मनोनीत
५	१०	प्रवृत्तियां	प्रवृत्तियों
५	२३	आदिका	आदिको
७	११	व्रतादिका का	व्रतादिका
८	९	फलं	पलं
८	१२	श्रावकावार	श्रावकाचार
११	२२	वया है	कहाँ है
१३	१०	चोरा	चोरी
१८	८	कर	करें
१९	३	दानशासन में	दानशासन में से
२१	२	पुण्यवान मनुष्य	पुण्यवान मनुष्य को रोग होता है और पुण्य रहित मनुष्य

२३	८	कर्त्ताका	कर्त्ताको
२३	८	आपका	आपको
२३	१०	शास्त्रो	शास्त्रों
२४	३	आग्राह्य	अग्राह्य
२४	१५	भोगमूभ्यादिज	भागभूभ्यादिजं
२९	१	दंसणेणा	दंसणेण
३०	२१	उद्देशल	उद्दसिय
३१	२-३	अर्थ उद्दिष्ट का नहीं है ?	अर्थ
३१	१३	बनाने को कहें	बनाने को न कहे
३१	१६	प्रक्षेव	प्रक्षेप
३१	१६	वायचनाद्यते:	वाऽऽपचनाद्यते:
३३	६	बनाया तो	बनाया हो तो
३३	७	कृतसाधितं	कृतं-साधितं
३३	१०	पृष्ठ ३६९	पृष्ठ ३६९-७०
३३	२५	कहता कि	कहता है कि
३४	१	यह	वह
३४	५	भिन्न	भिन्न भिन्न
३५	६	कोठरादय:	कोटरादय:
३५	९	अ० ८ पृ० ४९७	अ० ९ पृ० ४८९
३५	२१	निधर्मबाह्य:	जिनधर्मबाह्य.
३५	२५	पात्रनिमित्त से	पात्रकेनिमित्त से
३६	२	बनाया	बनाया हुआ
३६	७	उद्दिष्टाहा:	उद्दिष्टाहार:

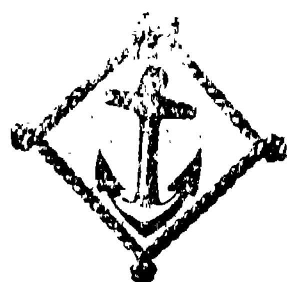
३६	१९	अप्पट्टकद	अप्पट्टकदे
३८	२	सब	सबमें
३९	२०	उद्दिष्टविचार	उद्दिष्टका विचार
४१	११	सत्यात्मीयार्थभषि	सत्यात्मीयार्थमपि
४२	९	इतना ही विरोध	इतना विरोध
४४	१२	कृतोत्तरासग	कृतोत्तरासंग
४५	२	यह	वह
४५	३	नग्रह क्रिया में	में प्रतिग्रह क्रिया में
४६	१८	आस्तिका	आस्तिको
४६	२१	कुलभर के	कुलभद के
४८	३	हो सकता कि	हो सकता है कि
४९	२२	बतन	बर्तन
५०	१४	क्षुल्लक की	क्षुल्लक को
५०	१७	बोर्डिङ्गों	बार्डिङ्गों
५४	३	सुनिराज	मुनिराज
५७	१६	भक्तवसेसं	भत्तवसेसं
५७	१७	सौख्यं	सोक्खं
६०	४	मुनि की	योनि की
६१	९	विवजिता	विवर्जिता
६१	१०	देवा	देया
६४	३	भिर	फिर
६४	१३	कदुक	कटुक

६४	१५	शास्त्र से	शास्त्र में
६४	१७	कर्म	कम
६५	९	इसलिये	और
६६	२३	आदि में	आदि से
६७	९	सपद्यते	संपद्यते
६७	१०	पयाजीवा	यथा जीव।
७१	५	लड्ड	लड्डू
७१	१२	सौभाग्या	सौभाग्य
७१	१३	पुत्र वधू	पुत्र वधू विधवा
७६	१५	बावालों का	बालों का
७७	२४	सामशर्मा	सोमशर्मा
७७	२५	सामा	सोमा
७९	२३	परमात्मा	पापात्मा
७९	२६	कलकित	कलंकित
८०	७	खद	खेद
८०	१३	पचार में	प्रचार में



विषय-सूची।

पृष्ठ



मेरे शब्द

क्षुल्लक श्री ज्ञानसागर जी ने 'दानविचार' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। प्रस्तुत पुस्तक उसी पर श्री परमेष्ठीदासजी लिखित समीक्षा है। समीक्षा लेखक ने दिखाया है कि 'दान-विचार' में जिन ग्रन्थों का आधार लिया गया है वे आर्ष नहीं हैं, प्रामाणिक नहीं है! उसका अंतरंग स्वच्छ नहीं है; आशय शुद्ध नहीं है; उसमें कषाय का अवलेप है; और उसमें प्रति-पादित बातें भेदभाव और पाखंड बढ़ाने वाली हैं।

बाहरी क्रिया-कांड को लेकर, अच्छा है, पुस्तकें लिखी न जांय। इस प्रकार की पर्याप्त से अधिक पुस्तकें अभी हाल हैं। और जिसने मन शुद्ध कर पाया है, उसे शुद्ध आचारण के नियम पालने में कठिनाई नहीं होती। बिना किसी विशेष पुस्तक की सहायता के वह जान पाता है व्यावहारिक जीवन में उसे किस प्रकार वर्तना चाहिये।

किन्तु इस प्रकार की पुस्तकें लिखी जाती हैं। अधिक-तर वे उलझनमें, भ्रममें, मूढ़तामें डाल देतीहैं। धर्मका उनसे अप्रकाश होता है। उनसे विवाद और विग्रह बढ़ता है। ऐसी पुस्तकें जब लिखी ही जांय तो अच्छा है उनकी ओर ध्यान न दिया जाय।

पर जग में ऐसे श्रद्धालुओं की भी संख्या है जो अपना कल्याण और स्वर्ग चाहते हैं किन्तु उस कल्याण मार्ग को पाने के लिये तनिक भी साधन करना नहीं चाहते। वह बना बनाना, छुपा छुपाया धर्म चाहते हैं, जिससे उनकी बुद्धि को कष्ट न मिले, और सुख चैन से उनके व्यवसाय का धंधा भी चलता रहे।

ऐसे लोग उन्हें पढ़ते हैं, प्रभावित होते हैं, और धोखा खाते हैं चूंकि ऐसा होता है, इसी लिये उनकी समोक्षा और आलोचना आदि लिखने की आवश्यकता होती है। ऐसी समीक्षाएं अंततः स्वयं में सात्विक न हों, पर उनकी उपयोगिता अवश्य है। वे भी अपने ढंग से भला करती हैं।

परमेष्ठीदासजीने इस अप्रिय, अप्रसाद और कथंचित् मैले कामका दायित्व अपने कंधों लिया है। जब मैल अपने आप उपजाया जाय तब उसे कंधों लेकर फेंक देने का काम करने वाला लोगों के धन्यवाद का पात्र है।

धर्म पुरुष का परम इष्ट है। जैसे कुतुबनुमे की सूई दिन-रात-हर घड़ी उत्तर की ओर रहती है, इसी तरह हर समय, हर काम में, मनको धर्म की ओर हम रक्खें। शेष और ओर बहुत कुछ है, सब कुछ है,—पर, धर्म तो उसी एक-उत्तर दिशा की—ओर है। हम तीनों-चारों ओर फैले हुए क्रिया-कलापके जालमें न भरमा जावें; अकम्प, अडिग, सोते-जागते उसी ओर देखते रहें, यह मेरी प्रार्थना है।

•जो हमारे सहानुभूति और हमारे ज्ञानके क्षेत्र को फैलाये वही हम पढ़ें, वही सुनें, शेष को अपने निकट अनपढ़ा, अनसुना हम बनादें। सौ बातों की यही एक बात है। और यदि 'दानविचार' पुस्तक हमारे बीच में प्रेम पैदा नहीं करती, विभेद उत्पन्न करती है, तो हम समझ लें वह जैसे छपी ही नहीं।

पहाड़ी धीरज दिल्ली।
२९ अप्रैल ३३

—जैनेन्द्रकुमार

सूर्य प्रकाश परीक्षा

अपर नाम चर्चासागर के बड़े भाईकी जांच-

भी शीघ्र छप रही है !

जैसे कि क्षुल्लक नामधारी ज्ञानसागरजी ने चर्चासागर-दानविचार एवं सूर्यप्रकाश पुस्तकें प्रकाशित कराकर जैन समाज को धोखे में डालकर जैनधर्म पर कलंक का टीका लगाने की कुचेष्टा की है, वैसे ही समाज के कुछ विद्वानों ने उनका शास्त्रानुकूल प्रतिवाद प्रकट कराकर समाज को सावधान करते हुए जैनधर्म पर लगते हुए कलंक के टीके को परिमार्जित करने का पूर्ण प्रयास किया है। जिनमें से चर्चासागर एवं दानविचार समीक्षाएं तो हमारे पाठकों ने देखी ही हैं। अब हम सूर्यप्रकाशपरीक्षा अपर नाम चर्चासागरके बड़े भाईकी जांच नामकी पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित करने वाले हैं जो कि तैयार होते ही पाठकों की सेवा में उपस्थित की जा सकेगी। पुस्तक की मौलिकता इसी से प्रकट होजाती है कि इसके लेखक हैं हमारे समाज प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार अतः ग्राहक महोदय शीघ्र ही हमें सूचित करने की कृपा करें।

जौहरीमल जैन सर्राफ,

दरीबा कलां—देहली।

चर्चासागर-समीक्षा ।

चर्चासागर ग्रन्थ से समाज में कितनी खलबली मची है इससे कोई अपरिचित नहीं है। अगर आप उसकी पूरी पोल देखना चाहते हैं और पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार के "शास्त्रीय प्रमाण" ट्रैक्ट की कमजोरी जानना चाहते हैं तथा दूषित साहित्य से बचना चाहते हैं तो पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ-सूरत द्वारा लिखी गई युक्ति और प्रमाणपूर्ण "चर्चासागर समीक्षा" मात्र ।||) की टिकिटें भेजकर हमसे शीघ्र ही मंगा लीजिये। ३०० पृष्ठ के इस अपूर्व ग्रन्थ को मात्र ||=) कीमत है। दो आने पोस्टेज में लगते हैं। तुर्त मंगाइये।

मिलने के पते:—

(१) ला० जौहरीमल जैन सर्राफ, बड़ा दरीबा देहली।
(२) दि० जैन पुस्तकालय, चन्दावाड़ी सूरत।
(३) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग गिरगांव, मुंबई
(४) बिहारीलाल कठनेरा हीराबाग-गिरगांव, मुंबई।

प्रस्तावना।



श्रीमान् क्षुल्लक नामधारी ज्ञान सागर जी (पं० नन्दनलाल जी) ने जो दानविचार पुस्तक लिखी है उसकी यह समीक्षा श्रीमान् पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ ने लिखी है। न्यायतीर्थ जी ने इस समीक्षा के द्वारा जैनधर्म की रक्षा की है और दानविचार के अज्ञान अनाचार और आगम विरोध को प्रकट करके जैन समाज में फैलती हुई मिथ्यात्व की प्रचुरता को रोका है।

खेद है कि क्षुल्लकजी ने जानते हुये भी जैन समाजमें मिथ्यात्व के फैलाने के लिये कमर कसी है। आपने न जाने क्या सोचा है। आपने आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्यजय सेनाचार्य कृत शुद्धप्रतिष्ठा पाठकी विना किसी युक्ति और प्रमाण के निन्दा की, सूर्य प्रकाश को प्रकाशित करके समाज में मिथ्यान्धकार फैलाया, चर्चासागर प्रगट कराके समाज में गोबर पंथ का प्रचार करना चाहा है। जिसका खूबही विरोध हो गया है। यज्ञोपवीत संस्कार नामक पुस्तक प्रकट करके उसमें कई आगम विरोधी बातें भर दी हैं। क्षुल्लक जी की ऐसी ही विचित्र कृतियाँ हैं।

दानविचार में आपने लिखा है कि पात्र के ही अर्थ पात्र के ही निमित्त पात्र के ही लिये तैयार किया गया भोजन आदि उद्दिष्ट नहीं है। यह कितना अनर्थ किया गया है। पं० परमेष्ठीदास जी ने इस समीक्षा में इसका अच्छा खण्डन किया है। क्षुल्लक जी ने दानविचार में एक जगह तो लिखा है कि मुनियों के निमित्त से किया गया आहारादिक उद्दिष्ट नहीं है। दूसरी

जगह इसे श्रावक का ही दोष बताया है। इस प्रकार कई जगह विरोधी कथन पाया जाता है मूलाचार की गाथा का प्रमाण देकर आपने उसका विपरीत अर्थ किया है।

यदि आप मूलाचारमें उद्दिष्टका लक्षण देखेंगें तो स्पष्ट मालूम होजायगा कि "जिसके नाम को या उद्देश्य को लेकर किया जाय वह उद्दिष्ट है" (गाथा ४८५) प्राशुक शुद्ध भोजन को यदि साधु जानले कि यह मेरे निमित्तसे बना है तो वह अशुद्ध है (गाथा४८६) मुनि ऐसा विचार करे कि मेरे निमित्तसे किया है तो कर्म बंधता है। तथा अधिकार ९ गाथा ४६ में लिखा है कि उद्दिष्ट कहिये मुनि निमित्त किया गया भोजन है। इसी प्रकार गाथा ४२५ और ४१४ आदि में स्पष्ट विधान है। अनगार धर्मामृत अध्याय५२ श्लोक २ और ७ में भी यही बात है। श्लोक बार्तिक पृष्ठ ३६९ में स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थ ने स्वयं अपने लिये बनाया हो वही आहार ग्रहण करते हैं। मुनि का लेशमात्र भी संकल्प या निमित्त हो तो उसे ग्रहण नहीं करते हैं। इसी प्रकार सैकड़ों आर्षवाक्य मिलते हैं। मगर खेद है कि क्षुल्लकजी ने कुछभी परवाह न करके इससे ठीक उलटा ही कथन दान विचार में किया है।

किंचित् मात्रभी आगम के विरुद्ध कथन करना घोर पाप है। मगर क्षुल्लक जी ने अनेक स्थानों पर आगम विरुद्ध कथन किया है और अपनी कषाय की पुष्टि की है। पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ ने इस समीक्षा के द्वारा समाज को धोके से बचाया है। आशा है कि समाज इससे लाभ लेगी और दानविचार जैसे दूषित साहित्य से सावधान रहेगी। धर्मरक्षण कांक्षी

पन्नालाल गोधा जैन
अधिष्ठाता दि० जैन उदासीनाश्रम—इन्दौर

दानविचार पर समीक्षा।



यह जैनसमाज का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि कुछ हठाग्रही व्यक्तियों द्वारा स्वार्थवश होकर आगम की ओटमें ऐसे साहित्य का निर्माण या प्रकाशन हो रहा है जो जैनधर्मके लिए कलंक समान है। चर्चासागर ने प्रकाश में आकर जैनसमाज में जो खलबली मचा दी है, तथा जैनधर्म को जैसा बदनाम किया है वह अभी सबसामने ही है। इतने में चर्चासागरका दूसरा अवतार "दानविचार" प्रगट हुआ है। इसके लेखक आचार्य शान्तिसागर संघमें विराजमान चुल्लक कहे जाने वाले ज्ञानसागरजी महाराज हैं !!! आपकी कृपाके फलस्वरूपही चर्चासागर प्रकाशमें आया था और आपकी ही लेखनी से "दानविचार" पुस्तक लिखी गई है। आपने ही 'सूर्यप्रकाश' जैसे महा विद्वेषपूर्ण ग्रन्थ को अनुवादित करके प्रगट कराया है और आपने ही 'यज्ञोपवीत-संस्कार' पुस्तक लिखकर जैनसमाज को बदनाम किया है। इससे मालूम होता है कि चुल्लकजी को ऐसे उच्छृंखल एवं आगम विरोधी साहित्य के प्रचार करने में ही मजा आता है !

"दानविचार" पुस्तकके लेखक चुल्लक ज्ञानसागरजी हैं और प्रकाशक हैं रतनलालजी मादीपुरिया कटरा खुशालराय-देहली। आपके ही द्रव्यसे यह २०३ पृष्ठकी पुस्तक प्रकट हुई है। इसमें क्या क्या भरा है सो आगे सब प्रगट होगा; किन्तु चुल्लकजी अपनी इस

कृति से स्वयमेव शंकित मालूम होते हैं। आपका अन्तरात्मा बोल रहा है कि इस पुस्तक में आगम विरोधी असह्य बातों का समावेश किया गया है इसलिए आप आद्य वक्तव्यमें लिखते हैं कि इस ग्रन्थ का सम्बन्ध पूज्यपाद आचार्य शान्तिसागर महाराज के संघ से कुछभी नहीं हैं। आगम की विरुद्धता व अविरुद्धताकी जिम्मेदारी लेखक पर ही निर्भर है !"

इस खुलासा का क्या रहस्य है ? सम्भवत: पाठकगण समझ गए होंगे। जब चर्चासागर ग्रन्थ इन्हीं जुल्लकजी की कृपासे प्रगट हुआ और आचार्य शान्तिसागर संघ में जगह-जगह मुफ्त वितरण किया गया तब उसका दोषी संघ भी ठहराया गया था। यही भय जुल्लकजी को इस ग्रंथ के विषय में भी मालूम पड़ता है। यदि 'दानविचार' आगम ग्रन्थों के आधार से ही लिखा गया है तो फिर संघ को इसके अलहदा कर देने की क्या आवश्यकता थी !

इसी आद्य वक्तव्य में जुल्लकजी प्रगट करते हैं कि "यह दान विचार ग्रन्थ अनेक आर्ष-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। जिनागम के विरुद्ध अपनी मनोनीत कल्पना से श्लोकों का अर्थ व अभिप्राय नहीं लिखा है।" किन्तु सखेद लिखना पड़ता है कि जुल्लक जी का यह वक्तव्य झूठ से भरा हुआ है। कारण कि इस पुस्तक में कई स्थानों पर आपने मनोनीत एवं आगम विरुद्ध पृष्ठ के पृष्ठ भर डाले हैं तथा जैनियों के कलङ्क स्वरूप-योनि पूजा के समर्थक एवं मिथ्या प्रचारक त्रिवर्णाचार के भी इसमें प्रमाण दिए गए हैं। हाँ, इस पर पर्दा डालनेके लिये आपने त्रिवर्णाचार का अपर नाम 'धर्मरसिक' अवश्य लिखा है ताकि सामान्य जनता भ्रम में पड़कर वास्तविकता की पहिचान न कर सके। जुल्लक जी की दृष्टि में योनिपूजन समर्थक त्रिवर्णाचार आगम ग्रन्थ है।

इसके अतिरिक्त जिस ग्रन्थ के आधार से यह दानविचार पुस्तक लिखी गई है वह है 'दानशासन' (?) यह ग्रन्थ कहाँ से आया है, कबका बना है, किसका बनाया हुआ है, इसके रचयिता जैनाचार्य हैं, भट्टारक हैं या पाँडे चम्पालाल की भांति कोई कलियुगी पण्डित हैं, यह कुछ मालूम नहीं होता ! कारण कि दानशासन का अभी तक न तो कहीं नाम ही सुना था और न यह प्रसिद्ध जैनग्रन्थोंमें से ही है। मैंने एक दो जैन साहित्यवेत्ता विद्वानों से इस विषय में पूछा है, उनसे इसका उत्तर मिला है कि 'यह ग्रन्थ न हमने अभी तक देखा है और न सुना है !' जब कि क्षुल्लक जी ने इस अप्रसिद्ध ग्रन्थ के अधिकांश प्रमाण दान विचार में दिये हैं या यों कहिए कि उसीके आधार पर यह पुस्तक रची गई है तब उनका कर्तव्य था कि वे दानशासन की प्रामाणिकता और कर्ता का परिचय प्रगट करते, किन्तु खेद है कि आपने यह बात अन्धकारमें ही रखी है। हाँ एक स्थान पर पृष्ठ ४२ में एक श्लोक के नीचे क्षुल्लक जी ने न जाने कैसे लिख दिया है कि 'वासुपूज्यर्षि कृत दानशासन।' बहुत प्रयत्न करने पर जो थोड़ा सा पता लगाया जा सका है वह इस प्रकार है:—

दानशासन का कर्ता और काल।

दानशासन की एक प्रति कहीं से हाल ही में कराके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन-बम्बई में मँगाई गई है। उसके अन्तमें परिचय और समय का बस एक ही श्लोक है कि:—

३ ४ ३ १
शाकेब्दे त्रियुगाग्निशीतगुयुतेऽतीते विषू(१) वत्सरे।
माघे मासि च शुक्लपक्षदशमे श्रीवासुपूज्यर्षिणा॥
प्रोक्तं पावनदानशासनमिदं ज्ञात्वा हितं कुर्वता।
दानं स्वर्णपरीक्षका इव सदा पात्रत्रये धार्मिका॥

अर्थात्—यह शक सम्वत् १३४३ (विक्रम संम्वत् १४७८) का बना हुआ ग्रन्थ है। कर्ता का नाम 'बासुपूज्य ऋषि' है। यह कोई भट्टारक जी हैं। आपने उस दानशासन में कितना शिथिलाचार भर दिया है यह तो कभी ग्रन्थ देखने पर लिखा जा सकेगा, किन्तु इतना अवश्य है कि इसमें मूलाचार, भगवती आराधना, और अनगारधर्मामृत जैसे मुनिधर्मनिरूपक ग्रन्थों की परवाह न करके यथेच्छ लिखा गया है। उसमें भी फिर क्षुल्लक ज्ञानसागरजी ने 'दानविचार' पुस्तक लिखकर तो और भी गजब किया है! जो आगे प्रगट होगा।

समाज अब इतनी सतर्क तो हो गई है कि वह किसी भी ग्रन्थ को मात्र संस्कृत में लिखा होनेसे या उसपर लेखक का बड़ा भारी नाम होने से ही एकदम उसे प्रमाण नहीं मान लेती। उसी प्रकार यह दानशासन भी संस्कृत में होने और ५०० वर्षका होने पर भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। कारण कि इसमें इसके कर्ता भट्टारक जी ने निराधार, आगम विरुद्ध और मनोनीति बातें भर दी हैं। समाज ऐसे ग्रन्थों की परीक्षा में निपुण हो और सत्य को पहिचाने यही मेरी आन्तरिक भावना है।

विज्ञ पाठकवर्ग! इस दानविचार में किस प्रकार के विषबीज बोये गये हैं, उसकी कुछ विचारणीय बातों का सार यह है। इस परसे ही आप समझ सकेंगे कि इस पुस्तकका अन्तरंग कितना कलङ्कित है। यथा:—

१—मतद्वेष बढ़ाने के लिये श्वेताम्बर—स्थानकवासी जैनी को इसमें अपात्र लिख मारा है।

२—नामोल्लेख न करके बैरिष्टर चंपतरायजी, ब्र० शीतलप्रसादजी तथा पं० दरबारीलालजी आदि विद्वानों पर जघन्य एवं द्वेष पूर्ण प्रहार किये गये हैं।

३—जैन स्कूल और जैन बोर्डिङ्गों में दिये हुये दान को धर्मका घातक लिख मारा है।

४—गोबर से लीपे गये पोते गये, और गोबर से छिड़के हुये मकान में मुनि को आहार दान देना योग्य बताया है।

५—जिनका त्याग करना अशक्य हो उसके त्याग करने की आवश्यकता नहीं है! ऐसा विधान करके शिथिलता का समर्थन किया है।

६—मुनिके निमित्त से यहाँ तक कि अमुक मुनिके नाम से भी इरादा पूर्वक बनाया गया आहार उद्दिष्ट आहार नहीं है! यह लिखकर वर्तमान की शिथिल प्रवृत्तियाँ और सदोष आहार गृहण की पुष्टि की है।

७—आहार लेते समय मुनि के सातवाँ गुणस्थान बतला कर अपना विशेषज्ञता का परिचय दिया है।

८—मुनियों को आहारमें दूध, दही, घी, शक्कर, मोदक, पूरी, घेवर और खाजे आदि देना चाहिये तथा विविध व्यंजनों और रसों तथा नमक मिर्च मसालों के लिये अलग २ चमचियाँ रखनी चाहिये। यह क्षुल्लकजी का आर्षोक्त कथन है।

९—मुनियोंको आहारको जाते समय शुभ मुहूर्त्त स्वरोदय द्वारा जान लेना चाहिये। यह लेखक का आगम ज्ञान है।

१०—अन्तर्जातीय विवाह को आपने मिथ्यात्व में सम्मिलित किया है।

११—गौ दान, घोड़ा दान, हाथी दान, कन्या दान और सुवर्ण-दान आदि का विधेय लिखा है।

१२—जिन मन्दिर के आंगन को गोबर से लीपकर गाय के मूत्र से छिड़काव करने की आगमोक्त (?) विधि बताई है।

१३—मुनि महाराजको गोबर आदि से शरीर शुद्धि करके चर्या को जाने का विधान किया है।

१४—विजातीय माता-पिता की सन्तान उत्तम दीक्षा लेनेकी अधिकारी नहीं है, यह लिखकर क्षपणासार जैसे ग्रन्थराज को अप्रमाणिक ठहराया है और भी ऐसी ही अनेक चर्चायें इस पुस्तकमें इसी ढंग की लिखी गई हैं, जिन पर क्रमशः आगम और युक्तिपूर्वक विचार किया जाता है।

अपात्र निर्णय।

दानविचारमें क्षुल्लकजीने पात्रोंके भेद बताते हुए अपात्र-निर्णय में द्वेष, ईर्षा और छल से काम लिया है। यथा—"मिथ्या मत को मानने वाले, गृहीत मिथ्यात्व के धारक और जैनधर्म से सर्व प्रकार से बहिर्भूत, व्रतादि, शील, जप, तप रहित और मिथ्यामय आचरण करने वाले सब अपात्र हैं। इस अपात्रकी गणना में श्वेताम्बर—स्थानकवासी और आर्यसमाजी, ईसाई, मुहम्मद, पैगम्बर वगैरह सब आजाते हैं!" (पृष्ठ २२)

क्षुल्लकजीने जैनोंके अंगभूत श्वेताम्बर—स्थानकवासी जैनों को ईसाई और मुसलमानों की कोटि में रखकर तथा उन्हें अपात्र लिखकर भयंकर मतद्वेष प्रगट किया है। आश्चर्य यह है कि आपने ग्रन्थारंभ में प्रतिज्ञा की है कि"अपनी मनोनीत कल्पना से श्लोकों का अर्थ व अभिप्राय नहीं लिखा है।" तब समझ में नहीं आता कि श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी जैनों को अपात्र किस आगमग्रन्थके आधार से लिखा है! यह तो आपके मात्सर्ययुक्त हृदयकी कल्पना ही मालूम होती है। यदि किसी आगम ग्रन्थ में श्वेताम्बर जैनों को अपात्र लिखा हो तो प्रगट करना चाहिये था, किन्तु आप कोई प्रमाण नहीं देसके हैं। हाँ,

गोमट्टसार जीवकाँड में श्वेताम्बरों को अपात्र न लिखकर संशय मिथ्यात्वी अवश्य लिखा है। किन्तु अपात्र किसी भी ग्रन्थ में नहीं लिखा । यथा—

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ ।
इन्दो विय संसइयो मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥१६॥

गोमट्टसार जीवकांड की इस गाथा का अर्थ करते हुये पं० खूबचन्द्रजी सिद्धांत शास्त्री ने 'इन्दो विय संसइयो' का अर्थ लिखा है कि कि "इन्दु नामक श्वेताम्बर गुरु प्रभृति संशय मिथ्यादृष्टि हैं !" इस प्रकार श्वेताम्बर जैनों को सम्यक्त-हीन मानने पर भी उन्हें अपात्र नहीं कहा जा सकता। कारण कि वे व्रतादिका का पालन दिगम्बरों की भांति ही करते हैं। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन से रहित किन्तु व्रत सहितों को आपने पृष्ठ १६ पर कुपात्र लिखा है यथा:—

निदर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं ।
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥

इस श्लोकानुसार कम से कम कुपात्रका लक्षण तो श्वेताम्बरों में अच्छी तरह घटित होजाता है। कारण कि वे सम्यग्दर्शन रहित और व्रत सहित तो होते हैं। इसलिये दानशासन में विहित कुपात्र का यह लक्षण आपके द्वारा माने गये अपात्र (श्वे०) में चला जाने से अतिव्याप्त होता है और "युग्मोज्झितं नरमपात्रम्" (व्रत तथा दर्शन रहित अपात्र है) यह अपात्र का लक्षण लक्ष्यभूत श्वेताम्बरों में घटित नहीं होता है कारण कि वे दर्शन रहित होकर भी व्रती हैं। इसलिये आपका अपात्र का लक्षण असम्भव दोषयुक्त ठहरता है। तब बतलाइये कि आपका सदोष कथन कैसे और किस प्रकार प्रमाण माना जाय !

क्षुल्लकजीने श्वेताम्बर भाइयों को अपात्र तो लिख डाला है; किन्तु उसके आगमोक्त लक्षण पर विचार नहीं किया। यदि पक्षपात को छोड़कर विचार करते तो ऐसी भूल कदापि नहीं करते। श्रीअमितगति आचार्य ने अपात्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

गतकृपः प्रणिहंति शरीरिणो, वदति यो वितथं परुषं वचः।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा, मदनवाणहतो भजतेंगनाम् ॥३६॥
विविधदोषविधायिपरिग्रहः, पिवति मद्यमयंत्रितमानसः।
कृमिकुलाकुलितं ग्रसते फलं,कलिलकर्मविधानविशारदः॥३७
दृढकुटुम्बपरिग्रहपंजरः, प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः।
गुरुकषायभुजंगमसेवितं,विषयलोलमपात्रमुशंति तम् ॥३८॥

(अमितगति श्रावकाचार अ० १०)

अर्थात्—जो निर्दय होकर प्राणियों की हिंसा करता है, कठोर एवं झूठ बचन बोलता है, बिना दिये हुए धनको अनेक प्रकार से हरण करता है, कामबाण से पीड़ित होकर स्त्रीका सेवन करता है, अनेक दोषों को करने वाले परिग्रह से युक्त है, स्वच्छंद होकर शराब पीता है, जीवजन्तुओं से व्याप्त माँस को खाता है, पाप कर्म करने में चतुर है, दृढ कुटुम्ब परिग्रहके पींजरा से सहित है, समताशील गुणव्रत से रहित है और जो भयंकर कषायरूपी सर्प से युक्त है ऐसे विषयलोलुपी को आचार्यने 'अपात्र' कहा है।

अब तनिक निष्पक्ष होकर विचार करिये कि क्या यह अपात्रका लक्षण श्वेताम्बर जैनों में घटित होता है? क्या श्वेताम्बर भाई हिंसक, झूठ, चोर, व्यभिचारी, परिग्रही, मद्य और मांस के खाने वाले तथा समता शील आदि से रहित हैं? यदि यह बात नहीं है

तो उन्हें अपात्र लिखने का दुःसाहस करना कैसा घोर अपमान है ! यदि आप शुद्ध हृदय से देखें तो मालूम होगा कि वर्तमान दिगम्बर और श्वेताम्बर श्रावकों का वाह्य आचरण प्रायः समान ही है । और जिसपर अपात्र का लक्षण आधार रखता है वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और मद्य मांस का खाना पीना यदि दिगम्बर जैनों में नहीं है तो श्वेताम्बर जैन भी इससे बहुत दूर हैं, तब फिर समझ में नहीं आता कि क्षुल्लकजी ने श्वेताम्बर—स्थानकवासी जैनों को अपात्र कैसे लिख मारा !

विचार करिये—यदि कोई दिगम्बर भाई किसी श्वेताम्बर जैन भाई को आहार करावे, रुपया पैसा दान करे, या उनकी किसी अनाथ संस्था में द्रव्य प्रदान करे तो क्या वह श्वेताम्बरों (अपात्रों ?) को दान देने के कारण अपार संसार में अनन्त काल तक भ्रमण करता हुआ अनन्त दुखद योनियों में कष्ट प्राप्त करेगा ? कारण कि अपात्र दान का यही फल बताया गया है ।

अपात्रों के विचित्र भेद ।

क्षुल्लकजी ने 'दान विचार' नामक पुस्तक में किसी न किसी बहाने से आगम की ओट में अपने विरोधियों की खूब खबर ली है । जिस को अपने से विरोधी देखा उसे ही अपात्र लिख मारा है । आप ने श्वे० और स्थानकवासी जैनों के अतिरिक्त और भी मनमाने अपात्र बतलाये हैं । यथाः—

"कितने ही अपने को जैन तो कहते हैं परन्तु अरहन्तदेव को सर्वज्ञ नहीं मानते हैं ! इसी प्रकार विधवाविवाह, जाति-पांतिलोप, आदि पाप-कर्मको भगवान कुन्दकुन्द स्वामीकी झूठी साक्षी प्रगट करते हैं वे सब जैन श्रावक भी अपात्र हैं ।

मिथ्यादृष्टियों के शास्त्र पढ़ाना अपात्र दान है !! मिथ्या शास्त्रोंका श्रवण पूजन सब से भयंकर है ! जो भव्य जीव अपना द्रव्य मिथ्या शास्त्रों की वृद्धि और उत्तेजना के लिये, मिथ्या शास्त्रों के पठन पाठन की शाला बनवाने के लिये, प्रदान करता है वह पूर्ण रूपमे मिथ्यादृष्टि है ! यह कुक्षेत्र सम्बंधी अपात्रदान है ।"

(पृ० २५)

विवेकी पाठक समझ गये होंगे कि क्षुल्लकजीके यह व्यक्तिगत आक्षेप हैं । इनमें अनेक बातें तो ऐसी हैं कि जिन का सम्बंध अपात्रता से लेशमात्र भी नहीं हैं । जब कि क्षुल्लकजी अपने आद्य बक्तव्य में प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि "इस में मनोनीत कल्पना से अपना अभिप्राय नहीं लिखा है" तब मैं क्षुल्लक जी से पूछता हूं कि महाराज ! यह सब बातें कौनसे धर्मशास्त्र में लिखी हैं । चूंकि कुछ समय से जैन पाठशालाओं में अजैन ग्रंथों के पढ़ाने बाबत चर्चा चली है इसलिये क्षुल्लकजीने मिथ्यादृष्टियों के शास्त्रों का पढ़ाना अपात्रदान और पढ़ना सुनना या देखना महा भयंकर लिख मारा है ! किंतु महाराज यह भूल जाते हैं कि अकलंक भगवानने मिथ्यादृष्टियों (बौद्धों) की शाला में जाकर मिथ्या शास्त्रों को मात्र सुना ही नहीं था किंतु उन्हें पढ़ा था, और मनन किया था, तब क्या वे भी पूर्ण मिथ्यादृष्टि हो गये थे ? इस के अतिरिक्त पूर्व आक्षेपों में भी अपात्रताका लक्षण घटित नहीं होता है ।

"जो मिथ्या शास्त्र पाठन पठन की शाला बनवाता है वह पूर्ण रूपसे मिथ्यादृष्टि है ।" यह लिखकर क्षुल्लकजी ने जैन कालेज और जैन स्कूल बनवाने का भी निषेध कर डाला है । कारण कि वहां पर जैनेतर (मिथ्या ?) शास्त्र भूगोल, गणित, साहित्य, इंगलिश और विज्ञान आदि का पढ़ाना प्रधान होता है तब जैन स्कूल या कालेज का बनाना मिथ्यात्व कहलावेगा ।

ऐसी संस्थाओं को मिथ्यात्व बताने का कारण यही है कि उनसे निकले हुये विचारशील विद्यार्थी धर्म शिक्षण लेकर क्षुल्लकजी की अन्धश्रद्धा में नहीं फंसते, त्रिवर्णाचार, चर्चासागर और दानविचार जैसे मिथ्या ग्रन्थों को नहीं मानते और आंखें बन्द करके 'सत्य वचन महाराज' की आवाज नहीं लगाते हैं! यही कारण है कि क्षुल्लकजीको ऐसी संस्थायें अत्यन्त असह्य हैं, यह आगेके कथनसे स्पष्ट हो जाता है।

जैन स्कूल व जैन बोर्डिंगोंको दान देना धर्म घातक है !!!

क्षुल्लकजीका धर्मशास्त्र कहता है कि "जैन स्कूल व जैन बोर्डिंगों के नाम से किया हुआ दान प्राय: अधिकभाग में जैनधर्मका घातक ही होता है !!! यह भी अपात्र दान है !"

(पृष्ठ २६)

इस कथन से क्षुल्लकजीकी मनोवृत्ति स्पष्ट हो जाती है ! आपने ऐसे पुण्य कार्यको जैनधर्मका घातक और अपात्रदान लिखकर अपनी कलुषित कषाय का परिचय दिया है। उन्हें पता नहीं है कि जैन बोर्डिङ्गोंकी ही यह कृपा है कि जैनसमाजके हजारों छात्र अपने धर्मकी रक्षा करते हुए ज्ञान संपादन कर चुके और कर रहे हैं। यदि जैन बोर्डिङ्ग न होते तो हजारों छात्र अन्य बोर्डिङ्गों में जाकर पढ़ते और इस का परिणाम यह होता कि धार्मिक संस्कार या संगति न मिलने से वे धर्महीन या ईसाई नजर आते। क्षुल्लकजी को इन बातोंका भान ही क्या है ?

दानवीर स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्रजीने अपने जीवन में सब से महत्व का कार्य भारतमें अनेक स्थानों पर जैन बोर्डिङ्गों की स्थापना करने का किया था। क्या उनने यह घोर पाप किया था ?

क्षुल्लकजीके धर्मशास्त्र 'दानविचार' के अनुसार तो आज सर सेठ हुकुमचन्द आदि सभी प्रतिष्ठित दानी श्रीमान् मिथ्यात्वी और अपात्रदानी कहलाने लगेंगे। कारण कि प्रायः सभी दानी जैन बोर्डिङ्गों और जैन स्कूलोंको दान देते हैं !

क्षुल्लकजीने जैन स्कूल और जैन बोर्डिङ्गोंको दान देना अपात्रदान लिखा है और उस का फल इस प्रकार बतलाया है—"अपात्रदानसे संसारकी वृद्धि तथा दाता और पात्रको अपार संसार होता है। अनन्तानन्त योनियों में दुःख की प्राप्ति होती है।" (पृष्ठ २६)

पहिले तो यही समझ में नहीं आया कि आपने जैन स्कूल व बोर्डिङ्गोंको अपात्र कैसे समझ लिया है ! कारण कि पहिले लिखा गया अपात्र का लक्षण इन में घटित नहीं होता है। क्या जैन बोर्डिङ्गों के विद्यार्थी हिंसक, झूठे, चोर, व्यभिचारी, शराबखोर, और मांसभक्षी होते हैं ? कारण कि अमितगति श्रावकाचार में अपात्र का यही लक्षण बताया गया है। यदि जैन विद्यार्थी ऐसे नहीं होते हैं तो फिर आपने किस कलुषित हृदयसे इन्हें अपात्र लिख मारा है ?

संभव है कि कोई विद्यार्थी अनाचारी भी निकल जावे तब क्या मुनि संस्था में भी कोई कोई मुनि भयंकर दुराचारी नहीं निकले हैं ? इसका अर्थ यह नहीं होता है कि मुनि संघ को दान देना अपात्रदान ठहरा दिया जावे !

दूसरे—क्षुल्लकजीने दानविचारके पृष्ठ १६ पर अपात्रका लक्षण लिखा है "युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि" अर्थात् सम्यक्त्व और व्रत रहित को अपात्र कहते हैं। किन्तु इसी श्लोकके नीचे लाटीसंहिता में पृष्ठ ११९ पर जो श्लोक है उसे क्षुल्लक-जी साफ उड़ा गये हैं ! कारण कि आप को तो जैन बोर्डिङ्गोंमें

दान देने वालेको अनन्त संसार बताना था; किन्तु लाटीसंहिता में छपे हुये उस श्लोक में अपात्र दानका भी विधान है। यथाः—

"कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम्"

अर्थात्—कुपात्र या अपात्र को भी यथायोग्य दान देना चाहिये। यदि अपात्रकी सहायता करनेसे अनन्त संसार बढ़ता होता तो लाटीसंहितामें अपात्र दानकी यह स्पष्ट आज्ञा क्यों दी जाती? सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जैन स्कूल या बोर्डिङ्गों में दान करना इतना भयंकर पाप कैसे हो जायगा जो अनन्तानन्त कालतक संसार में परिभ्रमण करानेका कारण होजाय? जैन बोर्डिङ्गों में कहीं हिंसा, झूठ, चोरी या व्यभिचार का उपदेश तो होता ही नहीं है। आखिरकार वहाँ भी तो जैन छात्र जैनशास्त्रों का अभ्ययन करते हुये जैन संस्कारों से संस्कारित होते हैं। फिर चुल्लकजी ने इसे घोर पाप कैसे लिख डाला? सच बात तो यह है कि जैन बोर्डिङ्गों से निकले हुए शास्त्री, तीर्थ या ग्रेज्युएट विद्वान् विचारशील एवं विशाल-दृष्टि होते हैं। यही चुल्लकजी को खटकता है। इसलिये आपने जैन बोर्डिङ्गोंका दान अपात्रदान बताकर उसकी जड़ को काट देने का दुःसाहस कर डाला है।

परस्पर विरोधी कथन।

'दानविचार' के पृष्ठ ३० पर चुल्लकजी लिखते हैं कि 'वरमे-कोप्युपकृतो जैनो नान्य सहस्रशः' भावार्थ—"हजार मिथ्यादृष्टियों को दान देनेकी अपेक्षा एक भी जैनको दान देना महान् श्रेष्ठ है क्योंकि वह जैन व्यवहार सम्यग्दृष्टि होने से पात्र है।" यहाँ पर सामान्यतया तमाम जैनों का समा-वेश होजाता है, फिर भी चुल्लकजी इस प्रमाणभूत श्लोक की अवहेलना करके तुरन्त ही पृष्ठ ३१ पर लिखते हैं कि—"यदि

जैन श्वेताम्बर है तौभी वह अपात्र है—मिथ्यादृष्टि के समान ही है !!!" जुल्लकजीका यह कितना कलंकित मतद्वेष है ? श्वेतांबर जैनोंमें अपात्रता सिद्ध न होने पर और उक्त श्लोकमें जैन मात्रको दान देने की स्पष्ट आज्ञा होने पर भी आपने अपना नया आर्डीनेन्स लगा ही दिया। फिर भी आप यहाँ जैन बोर्डिङ्गों के दान का पुनः निषेध करना भूल गये हैं जैसा कि श्वेताम्बरों का फिरसे निषेध कर दिया है। वास्तवमें तो बात यह है कि जहाँ सत्य नहीं है, एक नीति नहीं है, और हृदय शुद्ध नहीं है वहाँ पर क्षण क्षण में पदस्खलित होजाना स्वाभाविक ही है।

जुल्लकजीने इधर तो जैन बोर्डिङ्गको दान देना अपात्रदान कह कर पाप बताया है और उसका निषेध किया है किन्तु आगे चलकर इस मनः कल्पित बातको भूल जाते हैं और पृष्ठ ११३ पर लिखते हैं कि:—

"दाणं भोयणमेत्तं दिएणइ धएणो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण॥"

भावार्थ—"पात्रको भोजन देनेसे गृहस्थ धन्य होता है। आहारदानमें पात्र अपात्रकी विशेषता की परीक्षा करना आगम में नहीं बताई है। पात्र अपात्र की परीक्षा आहारदानके लिये नहीं करनी चाहिये।"

यहाँ पर प्रकरणवश जुल्लकजी आहारदानमें पात्र अपात्रकी परीक्षा नहीं करनेका प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं। तब मैं पूछता हूँ कि महाराज! यदि कोई दानी धर्मात्मा किसी जैन स्कूल या जैन बोर्डिङ्ग (जिसे आप अपात्र मानते हैं) को एक वर्षके लिये भोजन का खर्च देवे तो वह अपात्रदान का कुफल भोगेगा या नहीं ? यदि भोगेगा तो आपकी यह गाथा किस काम की ? और यदि कुफलका भागी नहीं होगा तो पृष्ठ २६ पर

जैन स्कूल और जैन बोर्डिङ्गको दान करनेका जो निषेध किया है वह किस काम का ? ऐसा परस्पर विरोधी कथन जिस 'दान-विचार' पुस्तक में भरा हो वह क्योंकर मान्य हो सकती है ?

क्षुल्लकजी की गोबर और गौमूत्रप्रियता !

दानविचारमें कई स्थानोंपर क्षुल्लकजीने गोबर और गौमूत्रका बहुत महत्व गाया है। गोबर और गौमूत्रको क्षेत्र शुद्धि और मुनियोंकी शरीर शुद्धिके लिये परम आवश्यक बताया है। आप मुनियोंको आहार देने योग्य क्षेत्रकी शुद्धिको बतलाते हुये लिखते हैं कि:—

"जिस घर में चाम हाड़ मल मूत्र आदि पदार्थों का संपर्क न हो, जिस घरमें शूद्रका निवास न हो, जिस घरमें व्रतिक भी मिथ्या दृष्टि के समान विचार वाला न हो, गायके गोबर और पानीसे भित्ति आदि चौकमें छिड़काव किया हो, ऐसे शुद्ध (!) गृह में योगीश्वर आहारदान ग्रहण करते हैं !" (पृष्ठ ४२)

इसमें प्रमाणके लिये क्षुल्लकजीने अपने आगम ग्रन्थ (?) दानशासनके श्लोक दिये हैं। इसके अतिरिक्त पृष्ठ ४३, ४४, १८०, १८१, १८२, १८४ में भी गोबर और गौमूत्र के द्वारा शुद्धि करने का विधान बताया है ! बड़े ही दुःखका विषय है कि मुनिदानके लिये भी गोबर शुद्धिकी आवश्यक्ता बताई जा रही है। इन्हीं क्षुल्लक महाराजने उस भ्रष्ट ग्रन्थ चर्चासागरका उद्धार किया था जिसमें गोबरसे जिनेन्द्र भगवानकी आरती और गोमूत्रसे अभिषेक करनेका विधान है ! अब यह दूसरा ग्रन्थ 'दानविचार' प्रगट किया है ! जिस समाज में आगम के नाम पर ऐसे अघोरपंथी साहित्यका प्रचार निधड़क होता जावे उस समाजका भविष्य भगवान ही जाने !

यहाँ पर विचारने की बात यह है कि क्षुल्लकजी भी ऊपर के प्रमाणमें एक जगह तो यों लिख रहे हैं कि "गायके गोबर और पानीसे भित्ति आदि चौकमें छिड़काव किया हो।" और उसी के ऊपर इसी श्लोक के पूर्वार्ध में लिखा है कि "घरमें मल-मूत्र आदि पदार्थोंका संपर्क न हो।" इस से मालूम होता है कि क्षुल्लकजी तथा उनके गोबरपन्थी अनुयायी गोबरको और गौमूत्रको मलमूत्र नहीं मानते हैं, किंतु उसे अमृत मानते होंगे! खेद!

यदि वास्तवमें देखा जाय तो गोबर गायका मल या विष्ठा ही तो है। उसे आहार करने के लिये चौका आदि क्षेत्र शुद्धिमें आवश्यक बताना निंदनीय बात है। गोबरपंथियोंकी दृष्टि में भले ही गोबर मल न हो किन्तु पं० दौलतरामजी अपने क्रियाकोष में पृ० १४ पर लिखते हैं कि:—

"नहिं छीवै गोबर गोमूत, मल मूत्रादिक महा अपूत।"

यहाँ गोबर और गौमूत्रको मल मूत्र तक कहकर स्पर्श तक न करनेकी आज्ञा दी है! इधर तो क्षुल्लकजी महाराज आहारके लिये गोबरके छिड़कावको आज्ञा बतला रहे हैं और उधर उन्हीं के मान्य ग्रन्थ त्रिवर्णाचार में लिखा है कि:—

विण्मूत्रोच्छिष्टपात्रं च पूयचर्मास्थिरक्तकं।
गोमयं पंकदुर्गंधस्तमो रोगांगपीड़िताः ॥१५०॥
तिष्ठंति यत्र शालायां भुक्तिस्तत्र निषिध्यते॥

अर्थात्—जिस घर में विष्ठा, मूत्र, जूठे बर्तन, पीव, चमड़ा, हड्डी, खून तथा गोबर, कीचड़, दुर्गंध, अंधकार, रोगी आदि हों वहाँ आहार नहीं करना चाहिये। यहाँ पर क्षुल्लकजीका ही आगम ग्रन्थ गोबरको अपवित्र बताकर उसका निषेध बतला रहा है तब आप गोबरके छिड़काव करनेका विधान बतला रहे हैं।

सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि क्षुल्लकजी आहार योग्य घरमें गोबरका छिड़काव करना तो पसंद करते हैं किन्तु उन्हें उस घर में शूद्रका निवास होना सह्य नहीं है। मानों शूद्र बिचारेकी क़ीमत गायके मल बराबर भी नहीं है! क्या आप या आपका संघ जिस घर में आहार करता है उसमेंके तमाम शूद्र नौकर घरसे निकालकर बाहर कर दिये जाते हैं? सच बात तो यह है कि आप लोग शूद्रोंके इतने कट्टर विरोधी हैं कि शूद्रके दर्शन होजाने पर भी शरीर शुद्धि और आचमन आदि का विधान बतलाते हैं। आपके ऐसे व्यापक और मानवीय (!) विचारों के लिये क्या किया जाय?

दानशासन के प्रमाणोंके अतिरिक्त जब किसी भी आर्ष ग्रन्थ में क्षुल्लकजीको गोबर शुद्धि नहीं मिली तब आपने राजवार्तिककी अष्ट प्रकार की शुद्धि में गोबर शुद्धि बताकर भगवान अकलंकदेव पर कलंक का टीका मढ़ना चाहा है और लिखा है कि "अकलंकदेव ने गोबर का व्यवहार शुद्धि में मान्य किया है। गोबर शुद्धि का विधान सनातन से (!) प्रचलित है! तथापि कुछ दिनों से कुछ विशेष प्रांतों में लोग इसका विरोध करने लगे हैं।" (पृष्ठ ४३)

इस प्रकार गोबर शुद्धि को भगवान अकलंक कथित और सनातन बताकर समाज को धोखा दिया जा रहा है। समझमें नहीं आता कि क्षुल्लकजी का 'सनातन' कितने वर्षों का होता है। मैं तो कहता हूँ कि आप दशवीं शताब्दी से पहिले के किसी भी आर्ष ग्रंथ में गोबर शुद्धि बता दीजिये, फिर आर्ष सनातन की बात तो दूर रहा। जब से शिथिलाचार और मिथ्यामय क्रियाकांडने जैनोंमें भट्टारकोंकी कृपासे प्रवेश किया है तब से आचार्यों के नाम पर रचे गये प्रतिष्ठा ग्रन्थों में भले ही गोबर को पूजा आरतीके योग्य बनाया जा सके, किन्तु वे प्रतिष्ठा-

पाठ कितने अप्रामाणिक और जाली हैं यह बात चर्चासागर-समीक्षा में हमने भली भाँति सिद्ध की है।

अब रही राजवार्तिक की बात, सो क्षुल्लकजी महाराज भगवान अकलंकके नामसे समाजको धोखा देना चाहते हैं। कारण कि राजवार्तिकमें जो अष्ट प्रकारकी शुद्धि बताई गई हैं वह मात्र लोकमान्यताका कथन है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन लोग भी गोबर को शुद्ध पदार्थ मानकर उससे क्षेत्र शुद्धि करें, उससे शरीर शुद्धि करें और पूजा आरती करें। इसका विशेष खुलासा आगे किया जायगा। यदि आठ प्रकार की शुद्धि में गोबर का उल्लेख होने से उसे ग्राह्य माना जाय तब तो आचार्य माणिक्यनन्दिने अपने परीक्षामुख सूत्रमें लिखा है कि—

"शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत्।"

अर्थात्-नर मुण्ड पवित्र है, क्योंकि वह प्राणी का अंग है, जैसे शंख और सीप आदि! वहाँ पर लोकबाधित का उदाहरण देते हुए शंख और सीप को शुद्ध लिखा है तब इसका अनर्थ करके आपकी भांति यदि कोई यह कहने लगे कि आचार्यने परीक्षामुख में शंख और सीपको पवित्र बताया है इसलिये उसे घरों में रखना चाहिए, मन्दिरों में ले जाना चाहिए तब क्या यह बात मान्य होगी? यदि यह बात मान्य नहीं हो सकती तो अकलंक भगवान की अष्ट शुद्धियों में से गोबर को ग्रहण करने का विधान क्यों बताया जा रहा है।

आचार्योंने तो लोक व्यवहारमें प्रचलित वस्तुका कथन किया है। उसका इस प्रकार अनर्थ कर बैठना भयंकर अज्ञान है। जिस जैन के विवेक आंखें होंगी वह गोबर को चौका आदिकी शुद्धि के लिए कभी योग्य नहीं मानेगा। मैं पूछता हूँ कि आप गाय के गोबर को क्यों इतना पवित्र मानते हैं; क्या

गधे की लीद को भी गाय के गोबर की भांति शुद्ध नहीं मानेंगे ? यदि नहीं तो इतना भेद क्यों ? क्या जैनधर्म में गाय पूज्य मानी गई है ? क्षुल्लकजी महाराज ने तो अपने "दानशासन" में यहाँ तक लिख डाला है कि:—

गोमयचूर्णविलिप्तं शुद्धं पुण्याहवाचनाहोमाभ्यां ।
सिक्तं गंधाबुलयं गेहं भोक्तुं मुनिजनाय योग्यं स्यात् ॥

अर्थात्—जो गोबर से लीपकर शुद्ध किया हो, पुण्याहवाचन से पवित्र किया हो, और श्री जिनेन्द्रके परम पवित्र गन्धोदकके सिंचन से पवित्र किया हो वह घर मुनिजनों के भुक्ति के लिये योग्य है !" (दानशासन)"।

विवेकी पाठको ! विचारिये, जहाँ पर गोबर से लीपा गया हो उसी गोबरमय अशुद्ध स्थानपर जिनेन्द्र भगवानके प्रक्षालसे प्राप्त किये गए परम पावन गन्धोदक का छिड़कना ! भगवान ! ऐसे क्षुल्लकजी से समाज सावधान रहे ! क्षुल्लकजी अपने आहार के लिये चाहे गोबर से लिपावें या गोमूत्र से छिड़काव करावें किन्तु उस पर परम पूज्य गन्धोदक का सिंचन तो बचने देवें, यही नम्र प्रार्थना है ।

क्षुल्लक जी का गोबर पंथ।

एक जगह नहीं किन्तु इसी प्रकार 'दानविचार' पुस्तक में कई जगह आपने गोबर और गोमूत्रको पवित्र कार्यों में लेनेका विधान बताया है । कुछ दिन पूर्व जयपुरमें हवन हुआ था, उसमें क्षुल्लक ज्ञानसागरजी ने आग्रह पूर्वक हवनकुण्डकी शुद्धि आदि में गोबर का उपयोग किया था । इससे मालूम होता है कि आप मन, बचन और काय तथा कृत कारित और अनुमोदना से गोबरपन्थ के प्रचार में लगे हुये हैं !

"दानविचार" के पृष्ठ ४४ पर मुनियोंके आहार योग्य स्थान शुद्धिका वर्णन करते हुये कहींका एक श्लोक प्रमाण में उठाकर रख दिया है। उसमें भी "गोविट्पूतगृहे" पद देकर सिद्ध करना चाहा है कि गोबर से पवित्र (!) किये घरमें मुनिजन आहार करते हैं। किन्तु क्षुल्लकजी का मन यहाँ कुछ शंकितसा मालूम होता है, इसीलिए आपने 'गोविट्पूतगृहे' का अर्थ 'गोवरसे घरका आंगन (? .पवित्र किया हो" ऐसा किया है ! "गृहे" का मतलब आंगन नहीं हो सकता ! यदि आँगन ही अर्थ किया जाय तो उसे गोबर या मिट्टीसे शुद्ध करनेसे मुनिके आहारदानके साथ क्या सम्बन्ध है ? कारण कि मुनिराजको तो घरके चौकेमें आहार करना होता है, उसकी पवित्रता करना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि आप 'दानविचार' के पृष्ठ ४२ और ४३ पर मुनि के आहार योग्य क्षेत्र गोबरसे लीपे और छिड़के गये चौक तथा घरको स्पष्ट शब्दों में लिख चुके हैं। इससे सिद्ध है कि आप मुनियोंके आहारके योग्य स्थान वही पवित्र मानते हैं जो गोबरसे लीपा गया हो ! मात्र चौका शुद्धि ही नहीं; किन्तु आपको तो गोबर इतना प्रिय है कि उससे मुनियोंकी शरीरशुद्धि और जिन मन्दिर में गोबर गोमूत्रका छिड़काव तथा गोबरसे आरती पूजा अभीष्ट है !

किन्तु असत्य और बनावटी सिद्धान्त निर्दोष नहीं हो सकता, उसमें पूर्वापर विरोध आ ही जाता है। इसीलिये आपके 'दानविचार' में एक जगह तो मुनिके आहार योग्य स्थानको गोबरसे शुद्ध करने बाबत लिखा है और पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि:—

"यत्यादिभुक्तागारेस्मिन् विण्मूत्रलेशोत्थिते ।
रोगः पुण्यवतो मृत्युरपुण्यस्य शिशोर्भवेत् ॥"

"भावार्थ—मुनिजनों को दान देनेमें योग्य चौका मल-मूत्र हाड़ आदि अपवित्र वस्तुओंसे मलीन हो तो पुण्यवान मनुष्य की मृत्यु होती है !"

यहाँपर विवेकी पाठक क्षुल्लकजीके विचित्र विज्ञान और कर्म फिलासफीको देखकर चकित होजावेंगे ! कहाँ तो एक जगह गोबरसे शुद्धि करनेका विधान बतलाया और दूसरी जगह मलसे युक्त चौकेमें आहारदान देनेसे मृत्यु हो जानेका भय ! कहा जा सकता है कि क्षुल्लकजी गोबरको मल नहीं मानते हैं ! किन्तु कई ग्रन्थकारोंने गोबरको मल या विष्ठा तक लिखा है और व्यवहारी जन भी गोबरको गायका मल मानते हैं। तब उसके द्वारा चाका शुद्धि करनेसे भी दाता मर जायगा या नहीं ?

दूसरे विचारणीय बात तो यह है कि गोबरके अतिरिक्त अन्य मलसे युक्त चौकेमें भी यदि दाता प्रमादवश मुनिदान दे दे तो वह एकदम कैसे मर जायगा ? यह क्षुल्लकजीके किस धर्म-शास्त्रका अनूठा सिद्धान्त है सो कुछ मालूम नहींहोता ! क्षुल्लकजी का कर्तव्य था कि जब दानविचार लिखने बैठे थे तो इसमें गोबर शुद्धि विषयक प्रमाण, मुनिधर्म निरूपक मुख्य ग्रन्थ अनगारधर्मामृत या भगवती आराधना आदिमेंसे देते। किन्तु उनमें इस अघोरपन्थका कोई प्रमाण न मिलनेपर किसी दानशासनके प्रमाण भर दिये हैं। आपने ऐसी तो कई अन्टशन्ट बातें इस पुस्तकमें भर दी हैं ! फिर भी आपका दावा है कि 'इस ग्रन्थमें अपनी ओरसे कुछ भी नहीं लिखा गया है !'

शिथिलाचारका प्रचार।

दानविचारके पृष्ठ ५० पर क्षुल्लकजी अपने आगम ग्रन्थ दान-शासनके आधारसे ही लिखते हैं कि "दोषोत्पादक अयोग्य पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये। जिनका त्याग करना अशक्य है

उनके त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है ! क्योंकि सद्भक्ति कषाय रहित होती है।"

विवेकी पाठकगण इससे अन्दाज लगा सकेंगे कि क्षुल्लकजी शिथिलाचारके कितने पोषक हैं। "जिनका त्याग करना अशक्य है उनके त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं।" क्या यह भी कोई आर्ष मार्ग है ? ऐसा होनेसे तो बहुतसे आदमी त्यागके लिये अशक्यता बतला सकते हैं। तब तो त्याग मार्ग ही उठ जायगा। मैं समझता हूँ कि क्षुल्लकजीने यह प्रमाण नलके पानीके लिये उपस्थित किया है। आजकल आ० शांतिसागरजीके संघमें शूद्र जल त्यागकी भारी धूम रहती है। उस समय शहरवासी लोग पूछा करते हैं कि महाराज ! नलका पानी तो शूद्र जलसे भी अपवित्र है किन्तु उसका छोड़ना अशक्य है, तब क्या किया जाय ? उसके लिये क्षुल्लकजीने यह जवाब तैयार कर दिया है कि "जिनका त्याग करना अशक्य है उनके त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है !" समझमें नहीं आया कि अशक्यके त्यागकी आवश्यकता भी कैसे मिट जाती होगी ? त्याग नहीं हो सकता यह एक बात है, किन्तु उसकी आवश्यकता ही मिटा देना दूसरी बात है ! लेकिन जहाँ शिथिलाचार और स्वार्थसिद्धिकी दृष्टि है वहाँ जो कुछ भी न लिखा जाय सो थोड़ा है।

मिथ्यादृष्टियोंसे स्पर्शित आहार।

इस विचार में क्षुल्लकजीने मिथ्यादृष्टियोंकी खूब खबर ली है। मानों आपकी दृष्टिमें मिथ्यादृष्टि मनुष्य अस्पृश्य हैं, पातकी हैं, अछूत हैं और न जाने क्या क्या हैं ! आप लिखते हैं कि—

"मिथ्यादृष्टिस्पृष्टमुच्छिष्टमेतत्- ।
नीचाख्यातं योगिने नैव दद्यात् ॥

(दानशासन)

भावार्थ—"मिथ्यादृष्टि लोगोंसे स्पर्श किया हुआ पक्व (?) अन्न यह सब उच्छिष्ट अन्न ही कहाता है। उसको नीच अन्न कहते हैं। वह योगियोंको नहीं देना चाहिये।" (पृष्ठ ५३)

यहाँपर दानशासनका अधूरा श्लोक देनेमें और अर्थके बदलने में क्षुल्लकजीका कुछ स्वार्थ मालूम होता है। समझमें नहीं आता कि इस अर्ध श्लोकमेंसे आपने 'पक्व अन्न' किस पदका अर्थ कर लिया है। यदि मान भी लिया जाय कि पक्व अन्न ही आपका और आपके आचार्य दानशासनके कर्ताको अभीष्ट था तो भी यह सर्वथा असंगत तथा आगम विरुद्ध है। कारण कि मिथ्यादृष्टिके द्वारा स्पर्शित आहार देनेका शास्त्रों में कोई विरोध नहीं है। यहाँतक कि मिथ्यादृष्टि स्वयं मुनियोंको आहार भी दे सकता है। इस सम्बन्धमें अनेक शास्त्रीय प्रमाण दिये जा सकते हैं। यथा—

यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीवं त्रसै-
र्निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यतिः।
युञ्जन्नुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥

अनगार धर्मामृत अ० ५ श्लोक ६६।

अर्थात्—जो आहार गृहस्थने स्वयं अपने ही लिये बनाया है, और जो मरे हुए या जीवित त्रस स्थावरोंसे रहित है ऐसे भक्त पानादिको गृहस्थके द्वारा दिये जानेपर आत्मकल्याणार्थ ग्रहण करनेवाला साधु केवल अपना ही नहीं किन्तु उस दाताका भी कल्याण करता है। यदि दाता सम्यग्दृष्टि है तो उसे स्वर्ग मोक्ष-रूपी लक्ष्मीके योग्य बना देता है और यदि वह दाता 'मिथ्यादृष्टि' है तो उसे अभीष्ट विषयों की प्राप्ति करा देता है।

इससे सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टि पुरुष भी आहार आदि देकर अभीष्ट विषयोंकी प्राप्ति कर सकता है और मुनिराज अपनी

आत्मसिद्धिके लिये मिथ्यादृष्टि से आहार ग्रहण करते हैं! फिर न जाने क्षुल्लकजीने मिथ्यादृष्टिसे स्पर्शित आहारको उच्छिष्ट या अग्राह्य कैसे लिख डाला है?

इसके अतिरिक्त जिन लोगोंके स्पर्शित भोजनका परित्याग करनेके सम्बन्धमें अनगारधर्मामृतके अध्याय ५ श्लोक ५९ में लिखा है उसमें मात्र 'चाण्डालादिस्पर्शः' ऐसा वाक्य दिया है। इससे सिद्ध है कि चाण्डाल आदिके द्वारा छिये हुये भोजनको मुनिराज नहीं ले सकते हैं। यदि मिथ्यादृष्टिका स्पर्शित आहार लेना वर्जित होता तो उस श्लोकमें अवश्य उल्लेख किया जाता, किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं लिखा गया है।

मजेकी बात तो यह है कि क्षुल्लकजीने इसी 'दानविचार' में आगे चलकर पृष्ठ १४१ पर सम्भवतः प्रश्नोत्तरश्रावकाचारका एक श्लोक अपने कथनके विरुद्धही उपस्थित किया है। यथा—

वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गताः।
देवालयं सुभुक्त्वापि भो भूभ्यादिजसुखं॥

अर्थात्—जिस जीवने एकबार भी पात्रको आहार दान दिया है वह 'मिथ्यादृष्टि' होनेपर भी भोगभूमिके सुखको भोगकर स्वर्ग सुखको पाता है।

अब बतलाइये कि क्षुल्लकजीके आगम ग्रन्थ 'दानशासन' का कथन प्रमाणीक माना जाय या सकलकीर्ति कृत श्रावकाचारका? आश्चर्य तो यह है कि क्षुल्लकजीको यह भी खबर नहीं है कि हम पहिले क्या लिख आये हैं और कुछ पृष्ठोंके बाद अब क्या लिख रहे हैं! अन्यथा इतनी गड़बड़ी क्यों होने पाती? पहिले तो मिथ्यादृष्टिसे स्पर्शित आहारका निषेध किया जाता है और फिर मिथ्यादृष्टिको आहार छूनेका ही नहीं किन्तु आहार-दान देनेका भी अधिकारी बताया जाता है और उसके फलस्वरूप

उसे भोगभूमिके सुख बताये जाते हैं। क्या ऐसे बिरोधी 'दान-विचार' की कुछ कीमत हो सकती है ?

आहार बनाने योग्य व्यक्ति।

क्षुल्लकजीने 'दानविचार' में आहार बनाने योग्य व्यक्तियोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है वह भी बिलकुल असंबद्ध एवं विचित्र है। यथा:—

अव्रतिकदत्तभुक्तिः व्रतभंगं च पुण्यभंगं स्यात्।
दास्या दत्तं कुर्यात् दातुः पुण्यस्य सद्व्रतेभंगः॥

अर्थात्—अव्रती पुरुषसे बनवाकर आहारदान देनेसे दाताका व्रत भंग होता है और पुण्यकी हानि होती है। जो दासीसे बनवाकर आहारदान दिया तो भी दाताके पुण्यका और व्रतोंका नाश होता है। (पृ० ५४)

समझमें नहीं आता कि रसोई बनानेवाला यदि व्रती नहीं होगा तो दाताके पुण्यका नाश कैसे हो जावेगा। अव्रती तो सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, तो क्या वह सम्यग्दृष्टि भी आहार नहीं बना सक्ता ? दूसरे—'दासीसे या नौकरानी-से भी आहार नहीं बनवाना चाहिये। यह बात तो और भी विचित्र है। कारण कि दासीके साथ अव्रती विशेषण नहीं लगाया गया है, इससे सिद्ध होता है कि दासी व्रती भी हो तो भी वह आहार नहीं बना सकती ! यदि यह बात सत्य मानी जाय तो क्या पूर्व में राजा महाराजा स्वयं आहार तैयार करते होंगे ! क्या वे रसोइन से शुद्ध आहार नहीं बनवाते होंगे ? क्या राजा श्रेयांसनाथने अपने हाथोंसे ही गन्नेका रस निकाला होगा ? और क्या अभी भी सेठ साहूकारोंके यहाँ रसोइनें आहार नहीं बनाती हैं ? मुनिसंघोंके साथ जो सेठ लोग वेतन देकर

चौकेवालोंको बर्तमानमें रख देते हैं उस प्रथाको क्या क्षुल्लकजीने बंद करानेका कोई प्रयत्न किया है ? यदि नहीं तो आपके इस दानविचारकी कोरी आज्ञा को कौन मान सक्ता है ?

यदि आप पुराण ग्रन्थोंको देखेंगे तो मालूम होगा कि अव्रती-क द्वारा आहार बनवाना तो दूर रहा किन्तु परस्त्री सेवी राजा सुमुखने वीरक सेठकी पत्नी बनमालाको बलात्कारसे अपनी पत्नी बना कर भी और उससे संभोग करते हुये भी अवधिज्ञानी मुनि-राजको आहारदान दिया था। तथा मुनिराज अपने विशुद्ध ज्ञानसे जानते भी थे कि यह राजा परस्त्री सेवी तथा अव्रती है और बनमाला परस्त्री है, फिर भी उनने आहार ग्रहण किया और राजा सुमुख तथा बनमालाने भावपूर्वक आहारदान दिया था। अन्तमें दोनों मरकर विद्याधर विद्याधरी हुये। (देखो हरिवंशपुराण पर्व १४ श्लोक ३७ से पर्व १५ श्लोक १३ तक)

अब यहाँपर विचारणीय बात यह है कि यदि राजाने या बनमालाने आहार बनाया था तो वे स्वयं व्यभिचारी और अव्रती थे। और यदि दासीसे बनवाया था तो वह भी आपके सिद्धान्ता-नुसार पुण्यका नाशक होना चाहिये था, तब राजा और रानी विद्याधर कैसे हुये ? जिसके पुण्यका नाश होजाता है वह भी क्या इस पद को पा सकता है ? दूसरे आश्चर्यकी बात तो यह है कि एक व्यभिचारी-परस्त्रीसेवी और अव्रती व्यक्ति तो आहारदान दे सकता है किन्तु वह अव्रतीसे या व्रती दासी से आहार बनवा नहीं सकता ! क्षुल्लकजीको चाहिये था कि वे 'दानशासन'के सिवाय किसी अन्य आर्षग्रन्थका प्रमाण देते, किंतु आप ऐसा नहीं कर सके हैं !

इससे आगे चलकर क्षुल्लकजी लिखते हैं कि—

"नीचोत्तमविमिश्रे च पक्वमन्नं विमिश्रवत् ।
कुलीननीचयोर्मिश्रे च दातुः कुलनाशनं ॥" (दानशासन)

"भावार्थ—यदि आहार नीच और उत्तम पुरुष दोनोंने मिलकर बनाया हो अथवा नीच और कुलीन पुरुषने मिलकर बनाया हो तो ऐसा अन्न उत्तम दाताको देनेसे कुलका नाश होता है।"

यहाँपर क्षुल्लकजीका आगम ग्रन्थ दानशासन नीच और ऊँच पुरुष अथवा नीच और कुलीनके बनाये आहारको अग्राह्य बतलाता है तब श्री सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें स्पष्ट लिखा है कि—

कृतादिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिनः ।
उच्चनीचगृहेष्वेव प्रविश्यन्तेऽतिनिस्पृहाः ॥

अध्याय २० श्लोक १० ।

भावार्थ—कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोंसे रहित आहारके लिये मुनिराज उच्च और नीच कुली सभी गृहोंमें बिलकुल निस्पृह होकर जाते हैं।

अब इस विषयका निर्णय मैं पाठकोंपर ही छोड़ता हूं कि किसका वचन प्रमाण माना जाय। जब मुनिराज ऐसे गृहोंमें आहारार्थ जा सकते हैं तब उनके बनाए हुए आहारको ग्रहण न करें यह कैसे बन सकता है? दूसरी बात यह है कि मुनिधर्म निरूपक ग्रन्थोंमें सत् शूद्रको आहार दान देनेका अधिकार बताया गया है तब दानविचारमें दिया गया दानशासनका श्लोक कैसे प्रमाण माना जा सक्ता है।

आहार ग्रहण करते समय सातवां गुणस्थान !!!

"दानविचार" पुस्तकके उद्दिष्टके विषयमें करीब २५ पृष्ठ काले किये गये हैं। यदि कोई समझदार व्यक्ति उनपर बारीकीसे विचार करे तो मालूम होगा कि इस उद्दिष्ट प्रकरणके अनुसार कोई भी आहार उद्दिष्ट नहीं हो सकता है। अथवा तमाम आहार

अग्राह्य ठहर जाते हैं। लेखककी इस विवेचन-शैलीको देखकर आप आश्चर्य किये बिना नहीं रहेंगे। उन बातों का तो आगे विचार किया जायगा, किन्तु प्रारम्भमें ही क्षुल्लकजीने जो अपने आगम ज्ञानका प्रदर्शन किया है वह इस प्रकार है:—

"परम वीतरागी मुनियोंको अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करते हुए भी सातवाँ गुणस्थान होता है!" (पृष्ठ ५७)

संस्कृत शास्त्रोंके जानकार क्षुल्लकजीने आहार ग्रहण करते हुये भी सातवां गुणस्थान बताकर अपनी सिद्धांतज्ञता (?) का परिचय दिया है। और इसी प्रकरणमें भाषा ग्रन्थोंके जानकार विद्वानोंका कई जगह हलका दिखानेकी चेष्टा की है। (देखिये पृ० ६२), किन्तु मैं समझता हूं कि भाषाके जानकार स्वाध्याय-प्रेमी पुरुष ऐसी भूल कदापि नहीं कर सकते हैं। पं० भूधरदासजी रचित भाषा ग्रंथमें तो इस विषयमें यों लिखा है कि—

"चर्चा १३ वीं-छट्टे सूं सातवें आइ जाइ तब गमन करतैं पांव ज्योंका त्योंही रहै, आहार करतैं ग्रास ज्योंको त्योंही रह जाइ, सो कैसे हैं?"

"समाधान—पांव धरते उठावते अथवा आहारका ग्रास लेते कई बार सातवें तैं छट्टा होइ जाय छट्टा तैं सातवां होइ जाय, तिसतैं आहार विहारकी क्रिया रह जाय।" (चर्चासमाधान पृ० १५)

यहाँ पर स्पष्ट बतलाया गया है कि आहार ग्रहण करते समय ७वें गुणस्थानसे छट्टा गुणस्थान होजाताहै। और जबआहारकरते समय छट्टे से सातवाँ गुणस्थान होता है तब आहार लेने की क्रिया-ग्रास मुँहमें देना या चबाना आदि सब स्थगित होजाता है। उतने समयके लिये कार्य बन्द हो जाता है। अब तनिक सैद्धान्तिकदृष्टि से भी इस सम्बन्धमें विचार करिये। गोमट्टसार जीवकांडमें लिखा है कि—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम कोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥ १३४॥

अर्थात्—आहार के देखने से अथवा उसके उपयोगसे और पेटके खाली होनेसे तथा असाता वेदनीयके उदय और उदीरणा होनेपर जीवके आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।

किन्तु सातवें गुणस्थानमें तो अहार संज्ञा ही नहीं हो सकती, कारण कि वहाँपर उसका कारण आसातावेदनीयका उदय नहीं है। यथा—

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारे णत्थि णहि कज्जे ॥ १३८ ॥

अर्थात्—अप्रमत्त गुणस्थानमें आहार संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वहाँपर उसके कारणभूत असाता वेदनीय कर्मके उदयका अभाव है। और बाकीकी तीन संज्ञाएं वहाँपर उपचारसे होती हैं किन्तु कार्यरूप में नहीं होती हैं।

यहाँपर स्पष्ट बताया है कि सातवें गुणस्थानमें आहारसंज्ञा कार्यरूपमें तो क्या उपचारसे भी नहीं होती है। तब वहाँपर आहार ग्रहण करना बतलाना कितनी भूल है! दूसरी बात यह है कि "अप्रमत्तादीनां चतुर्णां योगकषायौ" अर्थात् अप्रमत्तादि ७, ८, ९, १०, वें गुणस्थानमें योग और कषाय निमित्तक ही बंध होता है अर्थात् प्रमत्तके योगसे ७ वें गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता है, तब वहाँपर आहारकी सम्भावना कैसे हो सकती है?

तीसरी बात यह है कि साता-असाताकी उदीरणा छट्ठेमें ही हो जाती है। (देखो गो०कर्मकांड गाथा २७९-२८०) इसलिये भी सातवें गुणस्थानमें आहारका होना संभव नहीं है।

इत्यादि सैद्धान्तिक विचारसे और अनेक प्रमाणोंके आधारसे यह निश्चित होता है कि आहार ग्रहण करते हुये सातवाँ गुण-स्थान कदापि नहीं हो सकता है। फिर भी क्षुल्लक ज्ञानसागरजीने आगम विरुद्ध बात लिख मारी है। इस प्रकार इस 'दानविचार' पुस्तकमें आगमविरुद्ध, लोकविरुद्ध और नीतिविरुद्ध कई बातें भरी पड़ी हैं, जिनका दिग्दर्शन आगे कराया जायगा।

उद्दिष्ट और अनुद्दिष्ट विचार

'दानविचार' में उद्दिष्ट विचार का प्रकरण लिखकर क्षुल्लक ज्ञानसागरजी ने यह सिद्ध करना चाहा है कि मुनियोंके निमित्तसे बनाया गया आहार उद्दिष्ट नहीं है, यहाँ तक कि अमुक नामसे बनाया गया आहार भी अनुद्दिष्ट है। इत्यादि बातें लिखकर आपने शिथिलाचार की बेहद पुष्टि की है। इस सम्बन्ध में आपने एक युक्ति लगाकर लिखा है कि उद्दिष्ट आहारका त्याग पात्रके होता है न कि दाताके, इसलिए मुनि महाराज कृत कारित और अनुमोदना नहीं करते हैं। श्रावक चाहे जैसा आरम्भ करे किन्तु वह उद्दिष्ट नहीं है। ऐसा लिखकर श्रावकोंको महारम्भ करनेकी बिलकुल छूट देदी गई है! किन्तु धर्मशास्त्र क्षुल्लकजीके इस शिथिलाचार से सम्मत नहीं हैं। कारण कि मात्र मुनियों के निर्लिप्त रहने से कोई आहार अनुद्दिष्ट नहीं हो जाता है किन्तु गृहस्थोंको भी मुनियों के लिये आहार तैयार नहीं करना चाहिये। यथा—

"उद्देश्ल उद्देश्य देयं" (चारित्रसार पृष्ठ ६८)

अर्थात्—मुनिके लिये तैयार किया हुआ भोजन देना उद्दिष्ट दोष है। (टीका पं० लालारामजी शास्त्री)।

इससे सिद्ध होता है कि मुनिके न कहने पर भी यदि दाता मुनिके निमित्तसे आहार बनाता है तो वह उद्दिष्ट है। क्षुल्लकजी की एक

और दलील यह है कि "अमुक श्रावकने मुनिके लिये रसोई बनाई है, यह मुनिके लिये समारम्भ है, सो इस प्रकार का अर्थ उद्दिष्ट का नहीं ? उद्दिष्ट शब्दका समझना ठीक नहीं है। क्योंकि मुनिगण स्वयं तो किसीको आहार करने के लिये कहते नहीं हैं !" इत्यादि। किन्तु यह तर्क बिलकुल निःसार है। कारण धर्मशास्त्रोंका कथन इससे विपरीत है। यथा—

"साधून् वोदिश्य साधितम् अन्नं औद्देशिकं।"

अनगारधर्मामृत अ० ५ श्लोक ७. टीका

अर्थात—साधुओंके उद्देश्यसे बनाया गया आहार उद्दिष्ट दोषसे युक्त है। मात्र मुनिके निर्लिप्त रहने से और श्रावक द्वारा मुनिके निमित्तसे बनाये गये आहारमें अनुद्दिष्टता नहीं आ जाती है। यदि मुनि अपने लिये आहार बनाने को कहे, और श्रावक अपने लिये बनाते हुये आहार में मुनिके निमित्तसे थोड़ेसे चावल डाल दे तो यह आहार भी सदोष माना गया है। यथा—

स्याद्दोषोध्यधिरोधो यत्स्वपाके यतिदत्तये।
प्रक्षेवस्तण्डुलादीनां रोधो वापचनाद्यतेः ॥

अनगार-धर्मामृत अ० ५ श्लोक ८

यदि दाता अपने लिए पकते हुये भात दाल आदिमें अथवा उसके लिये पकते हुये जल—अधनमें मुनियोंको दान देने के अभिप्रायसे 'आज तो हम साधुको आहार देंगे' इस संकल्प से चावल दाल आदि डाले तो उसकी इस क्रिया को साधिक दोष कहते हैं। (टीका पं०खूबचन्दजी शास्त्री कृत पृ० ५२७)। इस कथनसे बिलकुल स्पष्ट होजाता है कि मुनिके नामसे बनाया गया आहार दोष पूर्ण है। मात्र मुनिके निर्लिप्त होने या न कहनेसे ही आहार निर्दोष नहीं हो जाता है। उद्दिष्ट दोषके निवारणार्थ दाता और पात्र दोनोंको प्रयत्न करना चाहिये।

क्षुल्लकजी ने इस बातका प्रयत्न किया है कि मुनिके लिये बनाये गए विविध व्यञ्जन अनुद्दिष्ट सिद्ध कर दिये जावें। इसके लिये आप जब कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं दे सके हैं तब इधर उधर के तर्क करना प्रारम्भ किये हैं। आप लिखते हैं कि—"एक श्रावक ने मुनियोंके लिये आहार बनाया और वहाँ पर मुनीश्वरका व्रत-परिसंख्यान नहीं मिलने से आहार नहीं हुआ तो यह कैसे माना जाय कि उसने मुनिके लिये ही आहार बनाया था? जो मुनिके लिये बनाया होता तो मुनीश्वर का ही आहार वहाँ पर होजाता!" (पृ० ६१)

क्षुल्लकजी का यह तर्क कितना उपहास योग्य है? यदि किसी श्रावकने मुनिके लिये आहार बनाया और दैवयोगसे वहाँ आहार नहीं हुआ तो वह कैसे माना जा सकता है कि उसने मुनि के लिये आहार बनाया ही नहीं था? यदि कोई गृहस्थ स्टेशनपर अपने अतिथिके लिये फल फूल और मिठाई लेकर पहुँचे, किन्तु दैवयोगसे अतिथि गाड़ी चूक गया और नहीं आ सका तो क्या यह माना जा सकता है कि गृहस्थ अपने अतिथि के स्वागतार्थ गया ही नहीं था? या उसने अतिथि के स्वागतार्थ तैयारी ही नहीं कीथी आश्चर्य हैकि क्षुल्लकजी महाराज ज्ञानवान होकरभी स्वलक्ष्य सिद्धिके लिये पोची और निःसार युक्तियाँ लगाते हुए कुछ संकोच नहीं करते हैं। इस प्रकरणमें आपने कई गाथाएँ और श्लोक इसी प्रकार व्यर्थ ही भर दी हैं। जिनमें न तो स्वपक्ष की सिद्धि होती है और न कोई खास प्रसंग ही है। किन्तु इन गाथाओं और श्लोकोंको व्यर्थ ही भर देनेका कारण यही मालूम होता है कि जिससे भोली जनता समझ जाय कि "दानविचार" संस्कृत, प्राकृतके प्रमाणोंसे सहित लिखा गया है।

क्षुल्लकजी ने इस प्रकरणमें कई बार इस बात को लिखा है कि "गृहस्थोंके उद्दिष्टका त्याग नहीं होता है। उद्दिष्ट त्यागी पात्र

है, दाता नहीं।" मैं भी यही कहता हूँ, धर्मशास्त्र भी यही कहते हैं और जनता भी यही जानती है। फिर न जाने इसे बार २ लिखकर आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? इस कथन से तो उल्टा यही सिद्ध होता है कि जो मुनिके उद्देश्य से गृहस्थने आहार बनाया है, उसे मुनिराज कदापि ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु गृहस्थने अपने लिये आहार बनाया तो उसीको मुनिराज लेते हैं। यथा—

"गृहिणा—गृहस्थेन, आत्मने—आत्मार्थे कृतसाधितं, तदशनादि—भक्तौषधादि, यतिः—संयतः, सचते—संबध्नाति तद्योग्यं करोतीत्यर्थः।"

(अनगारधर्मामृत पृष्ठ ३६९)

यहाँ पर स्पष्ट बतलाया गया है कि मुनि महाराज गृहस्थके द्वारा उसके लिये ही बनाये गये आहार और औषधादिको ग्रहण करते हैं। मुनिका जिसमें लेश मात्र भी संकल्प या निमित्त हो उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं। क्षुल्लकजी ने पृष्ठ ६५ पर लिखा है कि 'इससे तो औषधिदान नहीं हो सकेगा।' इसका उत्तर अनगारधर्मामृतकी उक्त टीकासे स्पष्ट हो जाता है। उसमें आहार आषधि दोनों ही "आत्मने कृतं" अर्थात् अपने लिये बनाई गई ही लिखी है। क्या आप अनगारधर्मामृतको प्रमाण नहीं मानते हैं ? यदि प्रमाण मानते हों तो आपकी शंका व्यर्थ हो जाती है।

क्षुल्लकजीने उद्दिष्टके विषयमें कई ऊल जल्लूल शंकाएं उठाई हैं। आप लिखते हैं कि "मुनिराज रस रहित आहार ग्रहण करते हैं। श्रावकगण रस रहित आहार सेवन नहीं करते हैं ! तो रस रहित मुनिके लिये ही बनाया जायगा। तब वह भी उद्दिष्ट हो जायगा ! इससे दानका ही अभाव हो जायगा !" (पृ० ६६)

यह शंका भी बिलकुल निर्मूल है। कौन कहता कि मुनिराज तमाम रसोंका परित्याग करते हैं ? यदि वे एक दो रसका त्याग

करते भी हैं तो यह त्याज्य वस्तु लेनेसे वे स्वयं ही हाथ संकोच लेते हैं और ग्राह्य वस्तुको ले लेते हैं। मुनियोंके लिये ही रस रहित आहार न तो कोई बनाता है और न यह कोई शास्त्रीय विधान ही है। दूसरी बात यह है कि आपकी शंका किसी भी पहलूमें भी तो नहीं बनती। कारण कि मुनि महाराज तो भिन्न रस त्याग करते हैं। वह श्रावकको मालूम नहीं हो सकता है। तब फिर श्रावक मुनिके लिये रस रहित आहार बना ही कैसे सकता है? क्या मुनिराज श्रावकोंसे कह देते हैं कि हमारे आज अमुक रसका त्याग है? यह तो हो नहीं सकता, इसलिये श्रावकों को मुनियोंके लिये रस रहित आहार बनाना बिलकुल असंगत और आगम-विरुद्ध है। इसीलिये आपकी शंका भी व्यर्थ हो जाती है।

आप लिखते हैं कि श्रावक रस रहित आहार सेवन नहीं करते! यह कल्पना भी मिथ्या है। कारण कि अनेक श्रावक ऐसे हैं जो कि नित्यप्रति इसे छोड़कर भोजन किया करते हैं! उसे हम बुन्देलखंडमें 'आज नौनकी रसी है, आज घी की रसी है' इत्यादि कहा करते हैं।

मैं क्षुल्लकजीसे पूछता हूँ कि आपको यहाँपर यह कहाँसे सूझी कि "मुनि महाराज रस रहित आहार करते हैं"। आगे चल कर तो आप पृष्ठ १२५ पर दूध, दही, घी, शक्कर, मोदक, पूरी घेवर और खाजे आदि आहारमें देनेका उपदेश कर रहे हैं! सच बात तो यह है कि आप वहीं कूद पड़े हैं जहां कि मतलब सिद्ध होता दिखाई दिया है। आपको अपने पक्ष सिद्ध करते समय पूर्वापर विरोध या आगम विरोधका तनिक भी विचार नहीं रहता है। अस्तु।

बसतिका दान—क्षुल्लकजीने एक शंका और भी जमाई है! उसमें आपका कहना है कि यदि मुनिमहाराज उद्दिष्ट वस्तुको

नहीं लेवें तो उनके लिये ही जो खास बसतिकायें बनवाई जाती हैं वे कैसे ग्रहण करते होंगे ?"

इस विषयमें भी आपने कोई शास्त्रीय आज्ञा नहीं बताई कि मुनियोंके लिये खास उनके ही उद्देश्यसे बसतिका बना देनेका विधान कहां है ! हां विरोधी विधान अनेक मिलते हैं। यथा—

"संयतेन अकृत्रिमा गिरिगुहांतरकोठरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितवासाः अनात्मोद्देशनिवर्तिताः निरारम्भाः सेव्याः।"

(श्लोकवार्तिक अ० ८ पृ० ४९७)

अर्थात्—मुनि महाराजको पर्वतकी अकृत्रिम गुफाओंमें या कोटरोंमें रहना चाहिये। यदि कृत्रिम स्थानों में भी रहें तो शून्य और छोड़ाहुये स्थानमें रहना चाहिये और ऐसे स्थानपर रहें जो आरम्भ रहित हों तथा अपने (मुनिके) उद्देश्यसे नहीं बनाये गये हों !

२—यही बात चारित्रसारके पृ० ७९ पर लिखी गई है कि मुनिके उद्देश्यसे बनाये गये स्थान बसतिका आदिका सेवन मुनिराज नहीं करते हैं।

३—चारित्रसारके पृ० १३७ पर तो यहाँतक लिखा है कि जो उद्दिष्ट वसतिकामें निवास करता है वह पार्श्वस्थ जिनधर्मसे बहिर्भूत है यथा—

'यो वसितिषु प्रतिवद्ध....पार्श्वस्थः निजधर्मबाह्यः।'

क्षुल्लकजीको इन शास्त्रीय प्रमाणोंकी परवाह नहीं है। उनने तो कुछ मनोनीत कल्पनाएँ उठाकर पृ० ६८ पर अन्तिम फैसला दे दिया है कि "उपर्युक्त हेतुओंसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि पात्र निमित्तसे निर्माण की हुई वस्तुका त्याग उद्दिष्ट त्यागी नहीं करता है।

यह लिखकर क्षुल्लकजी भयंकर शिथिलाचारकी पुष्टि कर रहे हैं। जब मुनिके लिये ही बनाया खास आहार उद्दिष्ट नहीं है तब समझमें नहीं आता कि उद्दिष्ट किसका नाम होगा। धर्म-शास्त्रोंसे बिलकुल विपरीत ही फैसला देकर क्षुल्लकजीने भयंकर अन्याय किया है। आचार्योंका कथन है कि—

"पात्रं उद्देश्य निर्मापितं उद्दिष्टः स च असौ आहारः उद्दिष्टाहा :।

(स्वामीकार्ति० प्रे० सं०)

अर्थात्—पात्रके उद्देश्यसे बनाये हुएको उद्दिष्ट कहते हैं। और वह आहार उद्दिष्ट आहार है।

कुटुम्बकारणोत्पन्नमन्नदानं सुखप्रदं ।
स्वयमागतपात्राय दातव्यं गृहनायकैः ॥

प्रश्नोत्तर श्रा० परि० २० श्लोक १९ ॥

अर्थात्—कुटुम्बके लिये बनाया गया आहार स्वयं आए हुए पात्रको देना चाहिये। क्षुल्लकजी अपनी कल्पनासे चाहे जितना शिथिलाचार फैलावें, इसके विरुद्ध ही आवाज लग रही है। देखिये श्रीमद् वट्टकेरकाचार्य कहते हैं कि—

पगदा असओ जम्हा तम्हादो दव्वदोत्ति तं दव्वं ।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकद असुद्धं तु ॥६६॥

मूलाचार पिण्डशुद्धयधिकार ।

अर्थात्-जिस द्रव्यमेंसे जीव निकल गये हैं वह प्रासुक द्रव्य कहा गया है। इस प्रकार से प्रासुक आहार शुद्ध सिद्ध होनेपर भी यदि वह मुनिराजके निमित्तसे बनाया गया है तो वह अशुद्ध है!

अब कहिये क्षुल्लकजी महाराज! मूलाचारकी इस गाथाको प्रमाण माना जाय या आपकी ऊट पटांग दलीलों को? जहाँपर

शुद्ध आहार भी मुनिके निमित्तसे बनाया गया अशुद्ध माना जाता है वहां पर मुनि के निमत्त से आहारको अनुद्दिष्ट बताना कितना जघन्य स्वेच्छाचार है !

मूलाचारमें तो यहाँतक कहा है कि अपने लिये बनते हुए भातमें मुनिके निमित्तसे यदि थोड़े से चांवल भी डाल दिये जावें तो वह दोष है। ऐसा आहार न तो मुनिराज ले सकते हैं और न गृहस्थको देना ही चाहिये। (देखो पिण्ड शुद्धयधिकार गाथा ८)

खेद है कि इतना स्पष्ट विधान होने पर भी क्षुल्लकजीने अपने 'दानविचार' में यद्वातद्वा लिखकर भोली समाज को उल्टी पाटी पढ़ाने का प्रयत्न किया है।

क्षुल्लकजीने अपनी मन्तव्य पुष्टिके लिये कुछ कथाओंको उलट पुलट कर दानविचारमें पेश की हैं और इस तरह समाज को सरासर धोखा दिया है। तनिक इसपर भी विचार करिए। आप लिखते हैं कि—

"भगवान कुन्दकुन्दस्वामी धरणीधर पर्वतसे सातसौ मुनियों के संघ सहित गिरनारी पर्वतकी यात्राको गये थे। इसमें मुनि-चर्याके लिये (?) लक्षावधि श्रावक श्राविका भी थीं। उन्होंने मुनि-राजों की चर्या के लिये (?) आहार बनाया था।" (पृ० ६८)।

मैं क्षुल्लकजी से पूछता हूँ कि लक्षावधि श्रावक कुन्दकुन्द-स्वामीकी चर्याके लिये आहार बनाते थे यह आप किस आधारसे लिख रहे हैं ? क्या वे लक्षावधि श्रावक श्राविकाएँ उपवास करते थे और मुनियोंके लिए आहार बनाते थे ? यदि ऐसा नहीं है तो आपके कथनको कैसे प्रमाण माना जावे ? दूसरे—यह कौन कहता है कि वे श्रावक मुनिचर्या (आहार कराने) के लिये गिरनार गये थे ? क्या वे श्रावकभी क्षेत्रकी वंदनार्थ नहीं गये थे ? आप ऐसे निर्दोष कथाओंमें स्वार्थसिद्धिके लिए यह जहर क्यों मिला रहे हैं ?

आपने जो कुन्दकुन्दस्वामी की कथाके अतिरिक्त और भी २-४ दृष्टान्त दिये हैं उन सबसे उक्त उत्तरही पर्याप्त है। क्षुल्लकजी आगे चलकर पृ० ७२ पर स्वयं उद्दिष्ट का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि जो पात्रविशेषके उद्देश्यसे बनाया जाय वह औद्दिष्ट है। यही तो मैं भी कह रहा हूँ कि पात्र विशेष—मुनि महाराजके निमित्तसे बनाया हुआ आहार आदि नहीं देना चाहिये। आपका मूलाचारकी दो गाथायें देकर न जाने क्या अभीष्ट सिद्ध होता है कि एक मुनिके नामसे ही नहीं किन्तु निग्रन्थ—दिगम्बर मुनिराजों के उद्देश्यसे बनाकर आहार देना भी सदोष है। यथा—

णिग्गंथोत्ति य हवे समादेशो ॥ मू० पृ०३३४ ॥

टीका:—ये केचन निर्ग्रंथाः साधव आगच्छन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं निर्ग्रंथा इति च भवेत्समादेशः ॥

इससे सिद्ध होगया कि किसी भी निग्रन्थ मुनिका विचार करके उनके निमित्त से आहार नहीं बनाना चाहिए। क्षुल्लकजी ने दानविचार में यह गाथा रखकर अपना सारा परिश्रम विफल बना डाला है। कारण कि इससे तो उनके मन्तव्यके विरुद्ध ही पुष्टि होती है।

जब और कुछ उपाय नहीं बना तब क्षुल्लकजीने उद्दिष्ट दोषके महत्वको ही मिटा देनेका प्रयत्न किया है। आप लिखते हैं कि "अधःकर्म दोषोंमें उद्दिष्ट दोष है। यह साधारण स्वल्प दोष है।...उद्दिष्ट भारी दोष नहीं है। अत्यन्त सूक्ष्म दोष है। साधारण दोष है।" (पृष्ठ ७३)।

इन पंक्तियोंमें क्षुल्लकजीकी मनोवृत्ति स्पष्ट झलक रही है। उद्दिष्ट दोषको साधारण, स्वल्प, लघु, सूक्ष्म आदि लिखकर नाम

कोशके तमाम शब्द दे डाले हैं। इससे आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं? आखिरकार इनका भी तो त्याग करना शास्त्रोंमें आवश्यक ही बताया गया है। कहीं यह दोष क्षम्य तो नहीं लिखे हैं? मूलाचारका जो प्रमाण दिया है उसमें भी "औद्देशिकं सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकाम: प्राह।" लिखकर छोड़नेका विधान है। फिर आप इसे प्रमाणमें रखकर समाजको क्यों भुलाना चाहते हैं?

आश्चर्य तो यह है कि आपने इसी बातको वारवार दुहराया है! पृष्ठ ७९ पर भी लिखा है कि "उद्दिष्ट दोष एक साधारण, स्वल्प और अत्यन्त सूक्ष्म दोष माना गया है।" यही बात फिर पृष्ठ ८० पर लिखी है। फिर यही बात पृष्ठ ८१ पर बड़े २ अक्षरोंमें लिखी है कि "इस प्रकारका उद्दिष्ट दोष साधारण स्वल्प है! आचार्योंने सूक्ष्म दोष माना है। मगर लोगोंने उद्दिष्ट दोषको महा भयंकर समझकर अनेक प्रकारकी कल्पना कर रखी हैं! यह उनकी शास्त्रकी अनभिज्ञता है!!!"

मैं शास्त्रज्ञ क्षुल्लकजीसे पूछता हूं कि महाराज! यह किस शास्त्रमें लिखा है कि उद्दिष्ट दोषको बचाना ही नहीं चाहिये। साधारण कहकर भी तो त्याज्य ही बताया है न? आप इस प्रकारसे पुनरुक्तिका ढोल पीटकर क्या सिद्ध करना चाहते हैं? क्या उद्दिष्ट विचार ही नहीं करना चाहिये, यही इच्छा है?

उद्दिष्टका विचित्र अभिप्राय—क्षुल्लकजीने शिथिलाचारकी पुष्टिके लिये कई पहलू पकड़े हैं। वह भी परस्पर विरुद्ध और असंगत हैं। आप लिखते हैं कि "उद्दिष्टका मूल अभिप्राय यह है कि किसी खास व्यक्तिके लिये संकल्प करके कोई भी उत्तम वस्तु तैयार की हो और वह वस्तु उस व्यक्तिको न देकर किसी अन्य पात्रको दानमें दी जाय तो वह वस्तु अवश्य ही उद्दिष्ट होगी। कारण कि जिसके लिये वह वस्तु बनाई थी, उसे न देनेसे

उसके परिणामोंमें मोह, लोभ और असूयाके भाव होंगे ! और दाताके मनमें शल्य अवस्था होती है। (पृ० ७३)।

पाठक इससे जान सकेंगे कि क्षुल्लकजीकी उल्टी गंगा बहती है ! शास्त्र तो यों कहते हैं कि किसी व्यक्ति-विशेषके या मुनिके उद्देश्यसे आहार बनाना ही नहीं चाहिये, किंतु अपने कुटुम्बके उद्देश्यसे बनाया हुआ आहार ही मुनियोंको देना चाहिये। लेकिन यहां पर क्षुल्लकजी यह सिद्ध कर रहे हैं कि अपने लिये या अपने कुटुम्बके लिये बना हुआ आहार मुनियोंको नहीं देना चाहिये। किन्तु खास मुनियोंके निमित्तसे बना हुआ आहार ही उन्हें देना चाहिये ! इसी बातकी पुष्टि करते हुए आप आगे लिखते हैं कि—

"गृहस्थने जो आहार अपने लिये प्रासुक विधिपूर्वक शुद्ध बनाया है वह आहार यदि मुनिको प्रदान करे तो वह आहार उद्दिष्ट दोष सहित है" ! (पृ० ७६)।

देखो क्षुल्लकजीका आगम ज्ञान ! आप कितना गजब कर रहे हैं। शास्त्र तो कहते हैं कि 'कुटुम्बकारणोपन्नमन्नदानं सुखप्रदं' अथवा 'यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतं' (जो गृहस्थने अपने लिये बनाया हो) वही आहार देना चाहिये तब क्षुल्लकजी औंधाही सिद्धांत बतला रहे हैं ! मूलाचारमें यह बात स्पष्ट लिखी है कि परमट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥ (पृ० ३८१)।

टीका—एवं परार्थे कृते भक्षादिके प्रवर्तमानोऽपि यतिर्विशुद्धस्तद्गतेन दोषेण न लिप्यते ॥

(पृ० ३८२)

अर्थात्—कुटुम्बी या निजके लिये बनाया हुआ आहार गृहस्थ मुनिको देता है। उसमें जो आरम्भादि दोष होता है उसका भागी मुनि नहीं होता है। इससे सिद्ध है कि गृहस्थ अपने

लिये बनाया हुआ ही आहार मुनिको देता है। मुनिको उसमें कोई दोष नहीं लगता है। मैं क्षुल्लकजीसे पूछता हूं कि क्या राजा श्रेयांसनाथने आदिनाथ भगवानके लिये ही गन्ने मंगाकर रस निकालकर रक्खा था? यदि नहीं तो आपको यह सत्य सिद्धान्त क्यों नहीं सूझ रहा है? आप अनेक कथाओंमें देखेंगे कि अमुक मुनिमहाराज अकस्मात् आगये और गृहस्थने पड़गाह कर विधिपूर्वक आहारदान दिया। तब क्या वह आहार अपने कुटुम्बियोंके लिये बनाये हुये आहारमेंसे नहीं दिया जाता था?

जिस ग्रन्थको क्षुल्लकजी स्वयं प्रमाण मानते हैं उस सागार-धर्मामृतमें लिखा है कि—"स्वार्थं आत्मार्थं आत्मनो निमंत्रणादौ सत्यात्मीयार्थमपि कृतं भक्तमाहारं ददे। अर्थात्—गृहस्थ विचार करता है कि मेरे लिये बनाया हुआ आहार अथवा यदि मेरा अन्यत्र निमंत्रण हो तो कुटुम्बियोंके लिये बनाया हुआ आहार मैं मुनिराजको दूंगा। क्या क्षुल्लकजी ऐसे आहारको उद्दिष्ट कहेंगे?

क्षुल्लकजीने षट् प्राभृतकी एक टीका देकर सिद्ध किया है कि अपने संकल्पसे जो दाता आहार बनाता है वह उद्दिष्ट है, और मुनिके संकल्पसे बनाया हुआ आहार उद्दिष्ट है। तब मैं पूछता हूँ कि महाराज! अनुद्दिष्ट आहार कौनसा है? क्या आहारदान की ही प्रथा बन्द होजाना चाहिये।

विरोधी कथन।

क्षुल्लकजी उद्दिष्टकी रचनामें ऐसे फँसे हैं कि उन्हें आगे पीछे का कुछ भी भान नहीं रहा है। पृ० ७३ पर तो आप लिखते हैं कि "किसी खास व्यक्तिके लिये संकल्प करके बनाई हुई वस्तु उसे न देकर अन्य पात्रको देना सो वह वस्तु अवश्य ही उद्दिष्ट होगी।" और आप ही आगे चलकर, पृ० ७८ पर लिखते

हैं कि 'किसी व्यक्तिविशेष मुनिके निमित्तसे आहार बनाकर उसी को देना, अन्य मुनिको नहीं देना सो उद्दिष्ट है।'

विज्ञ पाठक वर्ग! क्षुल्लकजीके इस विचित्र, ऊटपटांग, पूर्वापर विरोधी और आगम विरुद्ध कथनपर विचार करिये। कैसा मजेदार प्रलाप है। सच बात तो यह है कि जहां पक्षपाती दृष्टि होती है उसे न तो आगमका कथन ही सूझता है और न अपने कथनका पूर्वापर विरोध ही दिखाई देता है। क्षुल्लकजीकी इस "दानविचार" पुस्तकमें और खासकर उद्दिष्ट विचारके कथनमें इतना ही विरोध और आगम आज्ञाका लोप है कि वह देखते ही बनता है। विस्तार भयसे वह सब लिखना ठीक नहीं समझा है।

क्षुल्लकजीकी इस पुस्तकसे पता चलता है कि वे चाहते हैं कि जैसी प्रवृत्ति आहारके विषयमें वर्तमानमें चालू है वह चालू रहे, बल्कि इससे भी अधिक यदि गृहस्थ मुनियोंके नामसे ही विविध व्यञ्जन बनाने लगें तो कोई दोष नहीं है! आपने यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। समाजको धोखेमें नहीं आना चाहिये। कारण कि आगम ग्रन्थोंका सार यही है कि 'कुटुम्बके लिये बने हुए आहारमेंसे मुनियोंके निमित्तसे बनाया हुआ आहार उद्दिष्ट दोष पूर्ण है! इसे क्षुल्लकजीने पृ० ७६ पर भ्रम और आगमका अज्ञान बताया है! इसके लिये आगम ज्ञानी (?) क्षुल्लकजीको कुछ भी उत्तर देना उनके पदका अपमान है! अतः समाजसे निवेदन है कि वह धर्मशास्त्रके सत्यार्थको समझ कर काम करे। क्षुल्लकजीके मायाजालमें न फंसे।

नवधाभक्ति।

क्षुल्लकजीने नवधाभक्तिके प्रकरणमें भी बहुत गड़बड़ की है। आपने पात्रकी नवधाभक्तिके पहिले ही दर्शनकी एक विधि बत-

लाई है। उसमें दानशासनका एक श्लोक देकर लिखा है कि "दानकी विधि जाननेवाला दाता सबसे प्रथम सुपात्रको देखते ही तीन प्रदक्षिणा (?) और तीन नति (नमोस्तु) नमस्कार करे। इस क्रियाको आचार्यों ने दर्शन माना है !" (पृष्ठ ८९)।

यदि क्षुल्लकजीने दानशासन के सिवाय किसी आर्षग्रंथका प्रमाण दिया होता तो ठीक होता। किंतु आपकी दृष्टिमें तो दानशासन ही आगम ग्रन्थ है। फिर भी यह संगत मालूम नहीं पड़ता है। कारण कि मुनि महाराज जब मार्ग में अपने दरवाजेके आगेसे जारहे हों तब उनको खड़ा रखनेके लिये सबसे पहिले कहा जाता है कि "हे स्वामिन् ! अत्र तिष्ठ २" जब महाराज खड़े होजावें तब कहीं तीन प्रदक्षिणा आदि बन सकेंगी। किंतु मुनि महाराजको खड़ा किये बिना प्रदक्षिणा आदिकी विधि कैसे बन सकती है ? दूसरी बात यह है कि नमस्कार और प्रदक्षिणा आदिकी विधि तो नवधाभक्तिमें चौथे नम्बरपर है तब आप उसे सबसे पहिले किस आधारसे बतला रहे हैं ?

तमाम शास्त्रोंमें सबसे पहिले नवधाभक्ति करना बतलाया गया है। उसमें पहिली भक्ति प्रतिग्रह है। उसका अर्थ आप जिसे पूर्ण प्रमाण मानते हैं उस सागारधर्मामृतमें स्पष्ट लिखा हुआ है। यथा—

तत्र प्रतिग्रहः स्वगृहद्वारे यतिं दृष्ट्वा प्रसादं कुरुतेत्यभ्यर्थ्य नमोस्तु, तिष्ठेति त्रिर्भणित्वा स्वीकरणं।"

अर्थात्—अपने घरके दरवाजेपर मुनि महाराजको आया हुआ देखकर "हे महाराज ! कृपा कीजिये" ऐसी प्रार्थना करके 'आपको नमस्कार हो, विराजिये' इस तरह तीन बार कहकर मुनिके स्वीकार कर लेनेको प्रतिग्रह कहते हैं। यह सबसे पहिली

क्रिया है। तब समझमें नहीं आता कि क्षुल्लकजीने 'सबसे प्रथम सुपात्रको देखते ही तीन प्रदक्षिणा करे' कहाँसे लिख दिया है!

सागारधर्मामृतकी हिन्दी टीकामें पृष्ठ ३६२ पर पं० लालारामजी शास्त्रीने एक विशेष नोट देते हुये लिखा है कि "आहारके समय जब मुनि अपने दरवाजेके समीप आवें तो सबसे पहिले प्रतिग्रह किया जाता है। फिर अन्य क्रियायें की जाती हैं।" किंतु क्षुल्लकजीका "दानशासन" सबसे पहिले प्रदक्षिणा करना बतलाता है। आश्चर्य!

श्रीमदमितगति आचार्य महाराजने भी सबसे पहिले प्रदक्षिणा देने का विधान नहीं किया है। प्रतिग्रह ही सबसे पहिले बताया है। यथा—

कृतोत्तरासग पवित्र विग्रहो निजालयद्वारगतो निराकुलः।
ससंभ्रमं स्वीकुरुते तपोधनं, नमोस्तु तिष्ठेति कृतध्वनिस्ततः॥

अर्थात्—धोती दुपट्टा सहित शरीर पवित्र करके अपने द्वार पर निराकुल होकर मुनि महाराजको 'नमस्कार हो, विराजिये इत्यादि कहकर स्वीकार किया जाता है। इसके बाद अन्य क्रिया की जाती है। यहाँ पर भी सबसे पहिले प्रदक्षिणा नहीं बतलाई गई है, किन्तु क्षुल्लकजी का आगम ही निराला है।

क्षुल्लकजीने अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये आदिपुराण की एक कथा प्रमाण में पेश की है। किन्तु मैं आपको आदिपुराण या अन्य कई ग्रन्थों की ऐसी कथायें बतला सकता हूँ कि जिनमें पहिले प्रदक्षिणा करने का कोई विधान नहीं है, किन्तु प्रतिग्रह कियागया है। मात्र अमुक उदाहरण पेश कर देने से काम नहीं चलेगा। क्या आप कोई ऐसी आगम की आज्ञा या विधि बतला सकते हैं कि जिसमें सबसे पहिले प्रदक्षिणा देना बताया गया हो?

प्रतिग्रहका संकीर्ण अर्थ।

क्षुल्लकजीने प्रतिग्रहका जो अर्थ किया है यह बहुत ही संकीर्ण है और जैनधर्मकी उदारताको नाश करनेवाला है। यथा- "प्रतिग्रह क्रियामें दोष रहित हूँ, उच्चकुलीन श्रावक हूँ, आहार पानी शूद्रादिकके स्पर्शसे रहित। इत्यादि कहना चाहिये।" पृ०९१

क्षुल्लकजीने तो इसमें नतो कोई शास्त्रीय प्रमाण दिया है और न युक्ति। मात्र मनोनीत संकीर्ण विचारोंका प्रदर्शन कर दिया है। किन्तु अनगारधर्मामृत और भगवती आराधना जैसे मुनि-धर्म निरूपक ग्रन्थों में सत् शूद्रके हाथ का आहार ग्रहण करनेका विधान पाया जाता है तथा मूलाचारमें स्पष्ट लिखा है कि जैनमुनि नीच-ऊँच और मध्यम कुलोंमें विधिपूर्वक भिक्षा गृहण करते हैं। यथा—

अण्णादमणुण्णादं भिक्खंणिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
धनयंतिहिं हिंडन्ति य मोणेण मुणी समादिंति॥४७॥

—मूला० अनगार भावनाधिकार।

यहाँपर यह हो सकता है कि 'णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु, का अर्थ कोई धनवाला और गरीब आदि करडाले जैसा कि कुछ टीकाकारों ने कर भी दिया है तथा जैनमित्र में एक महाशय ने इसी सम्बन्ध में कुछ लिखा भी था किन्तु यह सर्वथा असङ्गत है। कारण कि अनगार भावना में धनवान गरीबके बीच कोई विशेष विचार हो नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जहाँपर आहार न ग्रहण करने योग्य स्थलों का वर्णन किया गया है उनमें जाति का या कुलका निषेध या विधान नहीं है किन्तु अमुक गुण दोषोंपर ही विचार किया गया है।

क्षुल्लकजीने तो इसके साथ ही शूद्रजल त्यागकी प्रतिज्ञा भी घुसेड़ दी है! मैं पूछता हूँ कि महाराज! क्या आप किसी भी

जैन ग्रंथमें यह बतला सकते हैं कि जिसमें प्रतिग्रहके समय गृहस्थको ऐसी प्रतिज्ञा भी करना लिखा हो कि 'आहार पानी शूद्रादिके स्पर्शसे रहित है ?" यदि आप ऐसा नहीं बतला सकते हैं तो जैन ग्रंथके नामपर ऐसा धोखा क्यों दिया जा रहा है ? चूंकि आ० शांतिसागरजीके संघमें आजकल शूद्रजल त्यागकी भरमार रहती है इसलिये क्षुल्लकजीने उसे प्रतिग्रहमें घुसेड़ दिया है। यह कितनी उच्छृंखलता है ? मैं पहिले सप्रमाण लिख आया हूँ कि शूद्रको आहार देने का पूर्ण अधिकार है ! इसके विरुद्ध ऐसी प्रतिज्ञा करना जैनधर्मकी उदारताका घात करना है। जब कि क्षुल्लकजीने दानविचारके प्रारंभमें प्रतिज्ञा की है कि हम इस पुस्तकमें अपनी ओरसे कुछ भी नहीं लिखेंगे तो मैं उन से पूछता हूँ कि प्रतिग्रहमें शूद्रस्पर्शित जलके त्यागकी प्रतिज्ञा किस शास्त्रमें लिखी है ? यदि आप नहीं बतला सकते हैं तो सखेद कहना होगा कि आप क्षुल्लकपदपर आसीन होकर भी जैन समाजको धोखा देरहे हैं ! शास्त्रोंमें दाताका लक्षण कुल या वर्ण का विभाग करके नहीं किया गया है, किंतु गुणदोषका ही विचार किया गया है। यथा-

आस्तिका निरहंकारो वैयावृत्यपरायणः ।
सम्यक्त्वालंकृतो दाता जायते भुवनोत्तमः ॥

अमितगति श्रा० परि० ९ श्लोक १६ ॥

अर्थात्—जो आस्तिक, निरहंकारी, वैयावृत्यमें तत्पर, और सम्यक्त्वी होता है वह दाता लोकमें उत्तम कहा गया है ! तब क्या यह गुण शूद्रमें नहीं होसकते ? जिसे आप उच्चकुलीन नहीं मानते। क्या वह आस्तिक आदि गुणोंको नहीं पासक्ता है ? तनिक जाति और कुलमदके कीचड़को धोकर निर्मल हृदयसे देखिये तो जैनधर्मका उदार सिद्धान्त तुरन्त ही समझमें आजायगा।

क्षुल्लकजी की पूजा।

वैसे तो नवधाभक्ति पूर्वक आहार मुनिराजोंको ही दिया जाता है। और यह क्रिया खास उन्हीं के लिए है किन्तु क्षुल्लक ज्ञानसागरजीने सातवीं आठवीं नौमी प्रतिमाधारी आदि श्रावकोंकी भी पूजा करनेका विधान बताया है। इसमें आप कोई प्रमाण तो दे नहीं सके हैं फिर भी आपका दावा है कि 'इस पुस्तकमें हमने अपनी ओरसे कुछ नहीं लिखा है!' आगे चलकर क्षुल्लकजी लिखते हैं कि "क्षुल्लककी नवधा-भक्ति अर्घपूर्वक ही होती है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रमाण पूर्वक पुराण ग्रन्थोंमें मिलते हैं!" (पृ० १०३)

समझमें नहीं आता कि क्षुल्लकजीने यह क्षुल्लक पूजाका प्रकरण क्यों उठाया है? क्या एक श्रावक (क्षुल्लक) श्रावकसे पूजा करावे, अर्घ उतरावे यह उचित मालूम होता है? इस सम्बन्धमें न तो कोई युक्ति ही है और न क्षुल्लकजी कोई शास्त्रीय प्रमाण ही देसके हैं! आपने क्षुल्लकके अर्घ उतारणेके लिये एक कथाका उल्लेख किया है, किन्तु वह बिलकुल निरर्थक है, कारण कि इससे आहारके समय क्षुल्लककी पूजा करना सिद्ध नहीं होता है। यथा—

वह उदाहरण आपने चन्द्रप्रभ चरित्रके श्लोक ७५ पृष्ठ ८ का दिया है। इस श्लोकका यह अर्थ ही नहीं है कि विद्याधरने प्रियधर्मा नामक क्षुल्लककी पूजा की या अर्घ चढ़ाया था। किन्तु क्षुल्लक ज्ञानसागरजीने किसी टीकाके आधारपर श्लोकको बदल दिया है। उसमें तो है कि "प्रतिपत्तिभिरर्थपूर्विकाभि:।" किन्तु आप लिखते हैं कि चन्द्रप्रभका वह श्लोक अशुद्ध है। उसपर "प्रतिपत्तिभरर्घपूर्विकाभि:।" चाहिये जिससे सिद्ध होजाता है कि राजाने सिंहासनसे उठकर क्षुल्लककी अर्घपूर्वक पूजा की थी!

हालांकि क्षुल्लकजी "प्रतिपत्तिभिरर्थपूर्विकाभिः" को अशुद्ध एवं अर्थहीन लिख रहे हैं किन्तु यह आपकी बुद्धिकी विचित्रता है। कारण कि उक्त पद का अर्थ यह होसकता कि अर्थपूर्विकाभिः—(सार्थक) प्रतिपत्तिभिः (बचनों के द्वारा) खगेन्द्रः (विद्याधर) तम् (उस क्षुल्लकका) अग्रहीत (सत्कार करता हुआ। क्षुल्लकजी चन्द्रप्रभूचरित्र के मूलश्लोक को तो अशुद्ध बतला रहे हैं किन्तु अपना मतलब सिद्ध करने के लिये प्राप्त की हुई किसी प्राचीन (?) टीका को शुद्ध एवं प्रमाण मान रहे हैं। मगर वास्तवमें तो टीका ही अशुद्ध है। कारण कि ७८ वें श्लोक की दूसरी पंक्ति—

मतयो न खलु चितज्ञतायां मृगयंते महतां परोपदेशं"

इस प्रकार है, किन्तु आपके टीकाकार ने 'मतयो' की जगह 'यतयः' कर दिया है, जिससे अर्थ और भाव दोनों बिगड़ जाते हैं। यहां पर 'यतयः' का कोई अर्थ ही नहीं बैठता है। तब कहिये महाराज ! आपकी टीका शुद्ध एवं प्रमाण कैसे मानी जावे ?

अब यहाँपर विचारना यह है कि एक तो मूल श्लोकमें पूजा करनेकी बात ही नहीं है और यदि आप 'अर्थ' को बदलकर 'अर्घ' भी कर दें तो भी यह सिद्ध कहां होगया कि क्षुल्लककी आहारके समय पूजा करनी चाहिये ? यह तो राजाओंकी सज्जनता, कर्तव्यपरायणता या राजनीति हुई। राज सभाओंमें तो माण्डलीक राजा बड़े राजाओं—चक्रवर्ती आदिको आरती भी उतारता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होजाता है कि चक्रवर्तीकी भोजन करानेके पहिले पूजा करनी चाहिये। इसी प्रकार यदि विद्याधरने प्रियधर्मा क्षुल्लकको अपनी राजसभामें आया हुआ देखकर उनका अर्घ उतारा मान लिया जाय तो भी इससे

यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि क्षुल्लककी आहारके पहिले नवधा-भक्तिसे पूजा करनी चाहिये।

क्षुल्लकजी जब दानविचार लिखने बैठे थे तो आपको मात्र एक असंगत कथाका दृष्टान्त देकर ही संतोष नहीं मानना चाहिये था; किंतु आपका कर्तव्य था कि आप भगवती आराधना, मूलाचार या अनगारधर्मामृत आदि मुनिधर्म निरूपक ग्रन्थोंमेंसे ऐसा कोई विधान बतलाते। किन्तु जब आपको कोई शास्त्रीय विधि नहीं मिला तब आपने एक कथाके श्लोकको पलट कर इतने मात्रसे संतोष मान लिया। सो भी आपने कोई ऐसा उदाहरण तक नहीं दिया कि आहारके समय किसने क्षुल्लकको अर्घ चढ़ाया था।

यहाँ तो आप क्षुल्लक पूजा सिद्ध करना चाहते हैं और इधर आप ही दानविचारके पृष्ठ ९४ पर लिख आये हैं कि—

"मुनि पादार्चनं यच्च सा पूजेत्यभिधीयते"

अर्थात्—मुनिके चरणोंमें अर्चन करना पूजा कही गई है! किन्तु समझमें नहीं आता कि क्षुल्लकजीने क्षुल्लक पूजाका भी प्रकरण किसलिये छेड़ दिया है। चाहिये तो यह था कि वर्तमानमें जो यथेच्छ प्रवृत्तियाँ चल रही हैं उन्हें रोके जानेका आप विधान बताते और पात्रोंको आर्षमार्ग पर चलनेकी विधि बतलाते, किन्तु आपने ऐसा न करके पूजा करानेका प्रकरण उठा दिया है। आप क्षुल्लक की पूजा तो कराना चाहते हैं किन्तु क्षुल्लकको अपने जूठे बर्तन स्वयं मांजना चाहिये, यह बात क्यों नहीं लिखी? इसकी तो बहुत भारी आवश्यकता थी। कारण कि आप जैसे क्षुल्लक महाराज गृहस्थके घर आहार करके बर्तन कभी नहीं मांजते हैं। किन्तु क्षुल्लकके कर्तव्योंमें इस प्रकार बतलाया गया है—

आकांक्षन्संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥

सागारधर्मामृत ॥ ७---४४ ॥

अर्थात्—भोजन कर लेनेके बाद प्राणिरक्षाकी अभिलाषा करते हुए चुल्लकको, जिस बर्तनमें भोजन किया हो उसे अपने हाथोंसे मांजना चाहिये-धोना चाहिये और आदि शब्दसे आसन उठाना और उच्छिष्ट (जूठन) उठाना चाहिये। उसे यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैं तो अतिशय विद्वान् या त्यागी हूँ। यह कार्य कैसे करूँ। यदि चुल्लक स्वयं बर्तन नहीं माँजकर दूसरे से मँजवावेगा तो वह असंयमका भागी होगा !

(देखो संस्कृत टीका पृ० २०२)।

चुल्लक ज्ञानसागरजीने चुल्लकको अपने जूठे बासन मांजने और जूठन साफ करनेका तो जिकर भी नहीं छेड़ा जिसकी खास जरूरत थी, किन्तु चुल्लककी अर्घ चढ़ाने और पूजा करनेके अशास्त्रीय विधानको सिद्ध करने बैठे हैं ? इसमें क्या रहस्य है सो पाठकोंको समझनेमें देर नहीं लगेगी।

विद्यालय और बोर्डिङ्गोंका दान ।

चुल्लकजीको वर्तमानमें चलनेवाले जैनविद्यालय और जैनबोर्डिङ्गोंसे भारी चिढ़ है ! कारण कि उनसे निकले हुए विद्वान आपकी निरंकुश पूजा प्रतिष्ठा और पाखण्डमें बाधक होजाते हैं। वे सत्यके हामी होते हैं और धर्मकी आटमें चलते हुए ढोंगोंका पर्दा फाश कर देते हैं। इसलिये चुल्लकजीने दानविचारके पृ० ११० पर फिरसे जैन बोर्डिङ्ग व जैन विद्यालयोंको दान देनेकी मनाई की है ! उनके विशेषण तो आपने ऐसे लगाये हैं कि जो किसी भी बोर्डिङ्ग या विद्यालयमें लागू नहीं होसकते। फिर भी

मैं क्षुल्लकजीसे पूछता हूँ कि यदि आपमें सत्य और साहस है तो कृपया कुछ ऐसे बोर्डिङ्ग या विद्यालयोंके स्पष्ट नाम प्रगट करिये जिनका उद्देश्य धर्मका घात करनेवाला हो। यदि आप यह नहीं बतला सके तो कहना होगा कि आपको वर्तमानकी शिक्षा संस्थाओंसे ही चिढ़ है। यदि आपके मनमें समाज हितका विचार है तो उन संस्थाओंके नाम स्पष्ट ही लिख दीजिये ताकि जनता सावधान होजाय। अन्यथा इस प्रकारके विद्याप्रचारमें बाधक होकर आप कौनसा बन्ध कर रहे हैं सो विचार करिये।

हालाँ कि क्षुल्लकजी पृ० २६ पर जैन स्कूल और जैन बोर्डिङ्ग को दान देना पाप बतला आये हैं जिसका उत्तर मैं पहिले दे भी चुका हूँ फिर भी आपने पृ० ११० पर वही जहर उगला है। इस का भी जवाब वही है जो मैं पहिले लिख चुका हूँ! भला विचार तो करिये कि ऐसी कौनसी जैन पाठशाला विद्यालय या बोर्डिङ्ग हो सकती है जिसका उद्देश्य ही जैन धर्मको नाश करनेका या मिथ्यात्व प्रचारका हो? हाँ, प्रत्येक संस्थामेंसे योग्य अयोग्य या श्रद्धालु—अश्रद्धालु अथवा परीक्षक, अन्ध भक्तोंका निकलना स्वाभाविक है। आप जानते हैं कि एक ही गुरुके दो शिष्योंमेंसे एक तो धर्मपोषक हुआ और एक महाघोर हिंसाकारक यज्ञका समर्थक हुआ। इसमें किसी गुरु या संस्थाको दोष देना भयंकर भूल है।

मुनियोंके लिये विविध व्यंजन।

जब स्वपक्ष सिद्धिकी बात आई है तब तो क्षुल्लकजी लिख आए हैं कि 'मुनि महाराज रस रहित आहार करते हैं, इसलिये गृहस्थ उनके निमित्तसे नीरस आहार बनाता है। उसमें उद्दिष्ट दोष नहीं! किन्तु इस प्रकरणको भूलकर आगे आपने मुनि-

महाराजको विविध व्यंजन देनेका उपदेश करते हुए कहींका डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है ! यथा—

मधुरं हृद्यं स्वाद्यं नेत्रप्रियं सरससुगंधसंयुक्तं।
संतोषकरं सुखकरं निद्रातंद्रालस्यहरं चाहारं।
देयं विधिना रम्यं शुद्धं सोत्साहपूर्वकं भव्यैः॥

भावार्थ—आहार मधुर हृद्य (स्वाद्यंका अर्थ छोड़ दिया है,) नेत्रोंको प्रिय, सरस, सुगंधयुक्त, (संतोषकरं—सुखकरंका अर्थ छोड़ दिया है) निद्रा तंद्रा आलस्यको दूर करनेवाला आहार देना चाहिये। (पृष्ठ १२५)

हालाँ कि क्षुल्लकजी विविध व्यंजनोंका विधान करने तो बैठे हैं किन्तु संकोच वश 'स्वाद्यं--संतोषकरं,—सुखकरं' का अर्थ जान बूझकर छोड़ दिया है। फिर भी आप अपनी ओरका भाष्य करते हुये लिखते हैं कि—

"दूध, दही, घी, शक्कर, तक्र, मोदक, पूरी, घेवर, खाजे आदि श्रावकके भक्षण करने योग्य पदार्थ मुनिको देना चाहिये।"
(पृष्ठ १२५)

पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि जब शास्त्रमें सादा, सात्विक, आलस्य न करनेवाला और तप ध्यानमें सहायक आहार देना लिखा है तब क्षुल्लकजी महाराज ऐसे व्यंजन बतला रहे हैं जो जान बूझकर प्रमाद और काम वर्धक हैं तथा निद्रा, तंद्रा आलस्यके करनेवाले हैं। मजा तो यह है कि आप ऊपर जो श्लोक दे आये हैं वह गुण भी (निद्रातंद्रालस्यहरं) आपकी टीकामें मिलान नहीं खाते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि—

तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः।
—सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सू० ३९ पृ० २१९।

अर्थात्—जो तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धिमें सहायक हो वह द्रव्य विशेष दान देने योग्य है। क्या क्षुल्लकजीके मोदक, पूरी, घेवर, बाबर आदि राज दुर्लभ व्यंजन तप और स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाले हैं? क्या यही सीधी और सादा खुराक है? क्या ऐसे आहारसे ही मुनिराज अपना मन इन्द्रियाँ काबूमें रख सकेंगे? तनिक विचार तो करिये कि आपका लिखना कहाँतक युक्त है। उधर तो क्षुल्लकजी मुनियोंको मंदिरों और धर्मशालाओं में रहनेका विधान बतलाते हैं और इधर ऐसे पुष्टिकारक इन्द्रियोत्तेजक व्यंजन आहारमें देनेको लिख रहे हैं, तब विचार करिये कि आप मुनिमार्गको किस प्रकार चलाना चाहते हैं। ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए आचार्योंने जिसे 'वृष्येष्टरस' का त्याग बताया है उसीको आहारमें देनेके लिए क्षुल्लकजी स्पष्ट विधान बतला रहे हैं। आश्चर्य!

मुनिचर्याके लिये शकुन विचार !!!

क्षुल्लकजीने धर्मरसिक ग्रन्थके साढ़े तीन श्लोक उद्धृत करके मुनिचर्याका वर्णन किया है। संभवतः यह धर्मरसिक त्रिवर्णाचार नामक भ्रष्ट ग्रन्थ हो! इसके बाद आपने लिखा है कि "मुनि जब आहारार्थ निकलें तब बायें हाथमें पीछी कमण्डलु लेना चाहिये और दाहिना हाथ कन्धेपर रखकर चलना चाहिये।" (पृष्ठ १२६)

यह किस ग्रन्थके आधारसे लिखा है सो आपने कोई प्रमाण नहीं दिया। और न वर्तमानमें सब मुनि यह विधि करते ही हैं। इसलिये आपका कर्तव्य था कि किसी शास्त्रका प्रबल प्रमाण देकर इसे सिद्ध करते। किन्तु आप कोई प्रमाण पेश नहीं कर सके हैं। आगे चलकर क्षुल्लकजी लिखते हैं कि "मुनियोंको

स्वरोदयसे शकुन विचार कर" आहारके लिये जाना चाहिये।

(पृष्ठ १२८)

जब जैन मुनिराज आहारके लिये अपने अवधिज्ञानका उपयोग नहीं करते, निमित्त ज्ञानको नहीं लगाते और निस्पृह होकर आहारार्थ निकलते हैं तब क्या वे आहारके लिये शकुन देखेंगे ? क्या वे स्वरोदयसे आहार मिलने या न मिलनेका अनुमान करेंगे ? क्षुल्लकजी महाराज ! यह जैन मुनियोंकी सिंहवृत्ति नहीं है आहारके लिये स्वरोदय और शकुन देखनेका काम तो दीनजनोंका है। आप इतनी दीनताका विधान किस शास्त्राधार से और कैसे कर रहे हैं। यदि आहारके लिये स्वर और शकुन विचारे जाते तो आदिनाथ भगवानको ६ माहतक आहारके बिना क्यों रहना पड़ता ? क्या वे अवधिज्ञान या निमित्तज्ञान अथवा स्वरोदयसे विचार नहीं कर लेते कि अब आज निकलना चाहिये ? किन्तु भगवानने ऐसा नहीं किया। यह आहारार्थ शकुनादि का देखना तो दीन पुरुषोंका काम है !

मुनियोंके ३२ ग्रास।

क्षुल्लकजीने उधर तो मुनियोंके लिये विविध व्यञ्जनोंका विधान कर दिया है और फिर आगे चलकर लिखते हैं कि— "असलमें बत्तीस ग्रासका मतलब यह है कि एक साधारण मनुष्यकी खुराक सामान्यरूपसे कच्चा अन्न आधा सेर या पौनसेर है। उसका पककर कितना ही होजाय यह बात दूसरी है। इतना अन्न ग्रहण करनेपर तृप्ति और संतोष होजाता है। ३२ ग्रासका नियम भी साधारण है। जितने अन्न पानीसे मुनिकी उदर पूर्ति होजावे मुनिके परिणामोंमें संतोष और तृप्ति होजावे उतना ही आहार पानी ग्रहण किया जाता है। (पृ० १३२)

क्षुल्लकजीके ३२ ग्रासका अर्थ समझकर पाठक आश्चर्य करेंगे। जब कि विविध व्यंजन दिये जावें और उसमें भी ३२ ग्रासका नियम न रहे किन्तु जहाँतक मुनिकी इच्छा तृप्त न हो वहाँतक आहार लेता रहे तब तो गजब हो जायगा। आचार्यने जो ३२ ग्रास तकका नियम बाँधा है वह भी निरर्थक होजायगा। क्षुल्लकजीके मतानुसार पौन सेर कच्चा अन्नतक साधारण आहार है, और उसमें भी आपका लिखना है कि "इसमें पानी संमिलित नहीं है!" इसका अर्थ तो यही हुआ कि मुनि महाराज ३२ ग्राससे अधिक इच्छा हो तो लेसकते हैं और उसपर भी पानी अलग ले सकते हैं।

कोई क्षुल्लकजीसे पूछे कि महाराज! यह महाभोजका विधान किस ग्रंथमें है, तब आप किसी दानशासनका और भी पता लगा डालेंगे! मालूम होता है कि यह विधान दानशासनमें भी नहीं है अन्यथा क्षुल्लकजी उसका प्रमाण दिये बिना नहीं रह सकते थे।

विचारनेकी बात है कि यदि कोई दक्षिणी या बंगाली श्रावक क्षुल्लकजीके आदेशानुसार पौन सेर पक्के वजनके चावल लेकर उनका भात बनावे तो क्या उतना भात खाकर ऊपरसे पानी भी कोई मुनि पीलेगा? समझमें नहीं आता कि ३२ ग्रासको गौण या अमान्य ठहराकर आपने अपना यह 'यावत् तृप्तिपर्यंत' का विधान कहाँसे लिख डाला है! पृ० १३३ पर आपने एक गाथाकी टीका दी है कि—

सहस्रतंदुलमात्रः कवलः आगमे पठितः, द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य स्वाभाविक आहारस्तेभ्यो यन्नूनं ग्रहणं तदवमौदर्यं तपः।"

अर्थात्—एक हजार चावलका ग्रास आगममें कहा गया है। ऐसे ३२ ग्रासोंका आहार स्वाभाविक है। इससे जो कम ग्रहण किया जाता है वह अवमौदर्य तप है।

ऐसी आज्ञा होनेपर भी क्षुल्लकजी लिखते हैं कि "३२ ग्रासमें चावलोंका वजन नौ छटाँक होगा।" फिर समझमें नहीं आता कि आप पौन सेर पक्के वजन तकका अन्न लेनेका विधान कैसे कर रहे हैं! उसमें भी पानी तो आप अलग ही बतला रहे हैं! जब कि आगम ग्रन्थोंमें आधा पेट अन्न और चौथाई पेट पानी लेने तथा चौथाई पेट खाली रखने की आज्ञा दी गई है तब क्षुल्लकजीका शास्त्र कुछ निराला ही निरूपण कर रहा है! जो न हो सो थोड़ा है!

मुनियोंका प्रसाद !!!

क्षुल्लकजीने आगे चलकर एक विचित्र ही बात लिखी है। जो संभवतः हमारे पाठकोंने न कहीं देखी होगी और न सुनी होगी। यथा—

"मुनिको आहार देनेके पश्चात् जिस थालीमें रखकर आहार-दान दिया हो उस थालीमें बचा हुआ (अवशेष) अन्न महान् पुण्यका कारण दिव्य अन्न है। प्रसाद महान पुण्य और महान् भाग्य से ही प्राप्त होता है! इसलिये उसको घरके समस्त कुटुम्बियोंको बाँटकर सेवन करना चाहिये!" (पृ० १३४)

यह प्रकरण विशेष विचारणीय है। विज्ञ पाठक समझ सकेंगे कि इस तरह क्षुल्लकजी समाजको किस ओर घसीट रहे हैं। जिस प्रकार अन्य मतावलम्बियोंमें भगवानका प्रसाद बाँटा जाता है, गुरुओंका प्रसाद वितरण किया जाता है उसीप्रकार क्षुल्लकजी भी जैनियोंमें इस 'महा मूढ़ता' का प्रचार करना

चाहते हैं। संभव है कि क्षुल्लकजी इस गुरुप्रसाद (!) की भाँति पूजामें चढ़ाये हुये द्रव्यको भगवत्प्रसाद कहकर खाने पीनेका विधान कर डालें। दक्षिण प्रांतमें इस प्रकार देवप्रसाद (निर्माल्य द्रव्य) खानेकी प्रथा है वही प्रथा धीरे २ क्षुल्लकजी इधर भी चलाना चाहते हैं, ऐसा मालूम होता है।

विवेकी पाठको ! क्या आपने कहीं मुनियोंके आहारसे बचे हुये उस थालीके अन्नको वितरण करने—प्रसाद मानकर खाने खिलानेका विधान देखा है? क्या आपने कथा ग्रन्थोंमें भी ऐसा कोई प्रकरण देखा है? यदि नहीं तो सोचिये कि क्षुल्लकजी किस पाखण्डका प्रचार करनेके लिये कटिबद्ध हुये हैं! भला जैनियोंमें देवप्रसाद और गुरुप्रसाद कैसा? यह नूतन आविष्कार तो बड़ा ही विचित्र है। दुःख तो इस बातका है कि क्षुल्लकजीने कुन्दकुन्द भगवानको अपनी इस मिथ्याकल्पनाका गवाह बनाकर उनके रयणसारकी गाथा नं० २२ का अनर्थ करते हुये लिखा है कि—

जो मुणिभत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुद्दिट्ठं।
संसारसारसोख्यं कमसो णिव्वाण वरसोक्खं॥

भावार्थ—जो भव्यजीव मुनिके आहार देनेमेंसे बचा हुआ अवशेषको गुरुदेवका प्रसाद समझकर (?) सेवन करता है वह स्वर्गके सुखको प्राप्त होता है। और क्रमसे निर्वाण सुखको भी पाता है।

क्षुल्लकजीने रयणसारकी गाथाका यह कैसा मिथ्यात्व पोषक अनर्थ कर डाला! इस गाथामें 'गुरुदेवका प्रसाद समझकर' ऐसा अर्थ प्रकट करनेवाला कोई शब्द ही नहीं है, फिर न जाने आपने यह भाष्य (?) कहाँसे कर डाला! दूसरी बात यह है कि

"मुणिभक्तवसेसं" का अर्थ क्षुल्लकजी थालीमें बचा हुआ अन्न कर रहे हैं जोकि बिलकुल गलत है। कारण कि कहीं भी ऐसी आज्ञा नहीं है कि मुनिके आहारमेंसे बचा हुआ थालीका जूठा अन्न खानेसे स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति होजायगी। यहाँपर तो 'मुनि-भक्तवसेसं' का अर्थ मुनिको आहार करानेके बाद जो अवशेष रहे ऐसा निकलता है। इसका अर्थ थालीकी जूठनमें नहीं है, किंतु चौकेके तमाम अवशिष्ट आहारसे है। कारण कि यहाँपर प्रकरण ही आहार देनेका चल रहा है। और आहार देने के बाद स्वयं भोजन करनेवालोंको उत्तम बताया जारहा है। कुन्दकुन्द भगवानने कहीं भी मुनिको आहार देकर उसी थालीकी जूठनको न तो प्रसाद बताया है और न कोई महत्व दिया है।

आगे चलकर क्षुल्लकजीने अपने गुरुप्रसादकी पुष्टि करनेके लिये कहींके २ श्लोक और भी उठाकर रख दिये हैं और उनका भी ऐसा ही अनर्थ कर डाला है! इसमें तो आपने और भी स्पष्ट लिख दिया है कि "मुनिकी परोसी हुई थालीमें बचा हुआ अन्न जो प्रसाद समझकर सेवन करता है वह तुष्टि, पुष्टि, बल, आरोग्य, दीर्घायु और लक्ष्मीका लाभ आदि समस्त सुखको पाता है!" (पृष्ठ १२५)

हांलाकि क्षुल्लकजीने यहाँ भी श्लोकका अनर्थ करके अपना मतलब बनाया है फिर भी विचारणीय बात यह है कि मुनिके आहारमेंसे बचा हुआ अन्न खाने खिलानेसे तुष्टि, पुष्टि, बल और आयुकी वृद्धि कैसे होजायगी। यह कौनसे कर्म सिद्धान्तका विषय है? क्या क्षुल्लकजीने ऐसी फिलासफी जैन धर्मके किन्हीं आर्षग्रन्थोंमें देखी है? खेद है कि जिसे अपना स्वार्थ ही सिद्ध करना है वह श्लोकोंका अनर्थ और सिद्धान्तका बिगाड़ करते हुये तनिक भी नहीं हिचकता है! क्षुल्लकजीने आगे चलकर तीसरे श्लोकमें तो मुनिकी जूटनको बिलकुल प्रसाद ही सिद्ध कर डाला

है ! आपको यह गाथा किसी दानशासन जैसे ग्रन्थसे मिली हुई मालूम होती है। अथवा यह भट्टारकीय दिमागका आविष्कार होना चाहिये। कारण कि जैनाचार्योंने मुनिके अवशिष्ट अन्नको न तो प्रसाद माना है और न खानेकी आज्ञा दी है और न कहीं कथा-ग्रन्थोंमें ही ऐसा विधान है। जो जैनधर्म जिनेन्द्रदेवका प्रसाद खाना पाप बताता है, वह भला मुनियोंकी थालीमेंसे बचे हुये जूठे आहारको खानेका कोई महत्व बतलावेगा यह होही नहीं सकता। लेकिन शिथिलाचारी और महत्वाकांक्षी लोग आगमकी ओटमें जो भी न करें सो थोड़ा है।

बोर्डिङ्ग और स्कूलोंपर पुनः आक्रमण।

क्षुल्लकजीको जैन बोर्डिङ्ग और स्कूलोंसे निकलनेवाले छात्र बहुत चुभ रहे हैं। इसलिये आपने अपनी इस 'दानविचार' पुस्तकमें उनपर फिर भी तीसरी बार आक्रमण करते हुये लिखा है कि "बोर्डिङ्गों और स्कूलोंमेंसे निकलनेवाले ज्ञानी प्रायः मिथ्या-ज्ञानके ही प्रचारक होते हैं। वे जिनागमका नाशकर सत्यधर्मका लोप ही करना चाहते हैं। इसलिये ज्ञानदान विचार कर देना चाहिये। (पृ० १४५)।

इन पंक्तियोंसे क्षुल्लकजीका कलुषित अन्तरंग स्पष्ट नजर आने लगता है। बारबार जैन बोर्डिङ्ग और जैन स्कूलोंपर ऐसा विद्वेषपूर्ण आक्रमण करके क्षुल्लकजीने अपने कलंकित हृदयको स्पष्ट बतला दिया है। क्षुल्लकजी दावेके साथ कह रहे हैं कि बोर्डिङ्ग और स्कूलोंके विद्वान मिथ्याज्ञानके ही प्रचारक होते हैं—सत्य धर्मका नाश ही करना चाहते हैं !' !"

भला सोचिये तो सही, किस जैन बोर्डिङ्ग या स्कूलका उद्देश्य जिनागमको नाश करने का होगा? यदि सच पूछा जाय तो क्षुल्लकजी और उनके गोबरपंथी यार ही जैनधर्मकी पवित्रताको नाश

कर रहे हैं। क्षुल्लकजी और उनकी सहपाठी कंपनी ही जैनधर्ममें मिथ्यात्व और अनर्थोंका प्रचार कर रही है। मैं आपसे पूछता हूं कि भगवानकी गोबरसे पूजा और गोमूत्रसे अभिषेक करना आप बतलाते हैं या बोर्डिङ्ग तथा स्कूल वाले? 'मुनिकी पूजा-प्रक्षाल करना कौन बताता है? पीपल और बटवृक्षोंकी पूजाका विधान कौन करता है? और ऐसे ही अनेक उपायोंसे पवित्र जैनधर्म पर कलंकका टीका कौन लगा रहा है? यह करतूतें आप लोगोंकी हैं या जैन बोर्डिङ्गों और स्कूलोंसे निकले हुये विद्वानोंकी?

यदि आज जैन बोर्डिङ्ग या जैन स्कूल न होते तो आप लोगों ने जैन समाजमें ऐसी धूर्तता चलाई होती कि वह वाममार्गको भी मात कर जाती! किन्तु जैन बोर्डिङ्गोंसे निकले हुये विद्वानोंके सामने आपकी लीलायें चल नहीं सकती हैं इसलिये आप जैन बोर्डिङ्ग और जैन स्कूलोंको ही मिटवा देना चाहते हैं। कारण कि न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी!

मैं आज यह दावेके साथ सिद्ध कर सकता हूँ कि जैनबोर्डिङ्गों और स्कूलोंमें पढ़कर निकले हुये विद्वानोंने जितनी धर्म की सेवा की है, जितना धर्मप्रचार किया है और जितनी समाजोन्नति की है उससे भी कई गुना आप लोगोंने विनाश किया है। विद्यावारिधि पं० चम्पतरायजी बैरिष्टर, बा० कामताप्रसादजी, स्व० पं० जुगमन्दरलालजी एम० ए०, बा० अजितप्रसादजी एम० ए०, आदि बोर्डिङ्ग और स्कूलोंसे निकली हुई निधियाँ ही तो हैं। इन्हीं महाशयोंने देश विदेशमें जैनधर्मका प्रचार किया है। यदि यह लोग बोर्डिङ्ग और स्कूलोंमें न जाते तो क्या वे आज जैनधर्मकी इतनी अवर्णनीय सेवा कर सकते? कदापि नहीं! खेद है कि क्षुल्लकजी के कलुषित हृदयमें सब काला ही काला नजर आरहा है! इस संबन्धमें पहले बहुत कुछ लिखा जाचुका है।

वसतिका दान ।

क्षुल्लकजीने वसतिका दानके प्रकरणमें मुनियोंको धर्मशाला और घरोंमें रहनेका विधान कर डाला है। प्रमाणमें सकलकीर्ति कृत श्रावकाचारके दो श्लोक भी उद्धृत किये हैं। किन्तु उनके अर्थ में जितना मतलबका था उतना घटा बढ़ाकर लिख दिया है और जो अर्थ स्वार्थसिद्धिमें बाधक होता था उतना छोड़ दिया। उसपर पाठक सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें। यथा—

शीतवातादिसंत्यक्ता शून्यगृहमठादिका ।
सूक्ष्मजीवादिनिर्मुक्ता कारितादिविवर्जिता ॥
स्वभावनिर्मिता सारा देया वसतिकाऽमला ।
गृहस्थैः सारपात्राय धर्मध्यानादिसिद्धये ॥

अर्थ—पात्रोंको धर्मध्यानादिकी सिद्धि के लिये शीतवातादि और उष्णतादि दोषोंसे रहित, (शून्य-गृह-मठादिकाका अर्थ छोड़ दिया है) सूक्ष्म जीवोंके निवाससे रहित, नीच जन व्यभिचारी आदि मनुष्योंके आवागमनसे रहित (यह क्षुल्लकजीके पेटमेंसे निकला हुआ अर्थ है) कारितादि विवर्जिता, स्वभाव निर्मिताका अर्थ जानबूझकर छोड़ दिया है) ऐसी धर्मशाला (?) मठ गुफा और गृह आदि वसतिका मुनिजनोंके लिये प्रदान करना चाहिये।

यहांपर क्षुल्लकजीने सरासर धोखा दिया है। उनकी दृष्टिमें समाज मूर्ख है, इसलिये मोटी चालाकीको भी नहीं पकड़ सकेगा। किन्तु संस्कृतके थोड़े से भी जानकार समझ सकेंगे कि क्षुल्लकजीने जो पद जानबूझ कर छोड़ दिये हैं, उनमें आपका कितना स्वार्थ भरा हुआ है। आप इससे यह अर्थ सिद्ध करना चाहते हैं कि मुनिराज धर्मशालाओंमे रह सकते हैं, घरों में भी रह सकते हैं, और सर्वत्र निवास कर सकते हैं!

इसीलिये चुल्लकजीने इस यथेच्छ निवासके बाधक वाक्यों को छोड़दिया है। वास्तवमें तो इन श्लोकोंका सीधा सादा अर्थ यह है कि जिसमें शीत वायु आदि न हो, जो सूने घरके या मठ के रूपमें हो, जिसमें सूक्ष्म जीवोंका निवास न हो जो कृतकारित अनुमोदनादिसे रहित हो, जो स्वभावसे ही बनी हो अर्थात् मुनियोंके निमित्तसे न बनाई गई हो, और जो अच्छी तथा निर्मल हो ऐसी वसतिका मुनियोंको धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये देनी चाहिये

अब पाठक दोनों अर्थोंको मिलाकर देखेंगे तो मालूम हो जायगा कि चुल्लकजीको कितना शिथिलाचार पसन्द है। वे मुनिके निमित्तसे बनाई गई और कृत कारित अनुमोदनादि दोषों से युक्त धर्मशाला मकान मन्दिरों को भी अयोग्य नहीं समझते हैं। इसीलिये तो आपने उसके निषेधक पद छोड़ दिये हैं।

स० श्रावकाचार में इतना बचाव करके लिखा गया है कि अधिक अनर्थ या शिथिलाचारकी पुष्टि नहीं होसकती है। किन्तु चुल्लकजीने उसे उलटपुलटकर तो गजब किया है!

आप मुनियोंको धर्मशाला दान करनेका उपदेश करते हैं। मैं पूछता हूँ कि महाराज! यह किस शास्त्रमें लिखा है? तब आप दानशासनका भी प्रमाण पेश नहीं कर सकेंगे। जब जैनागममें वनवासकी स्पष्ट आज्ञा है तब आप मुनियोंको नगरमें मन्दिर मकान तथा धर्मशालाओंमें ठहराना चाहते हैं। देखिये आदि-पुराणमें लिखा है कि—

तते विविक्तशायित्वं बने वासश्च योगिनां ॥

(पृ० ७५५)

अर्थात—मुनियोंको सर्वदा एकान्तमें वनमें ही निवास करना चाहिये। इसमें भी प्रबल हेतु यह दिया गया है कि—

वसतोस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः ।
बाहुल्यादिंद्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः ॥

—आदिपुराण अ० २१ श्लो० ७८ ।

अर्थात्—यदि साधु नगरमें निवास करेगा तो मनुष्योंके विषयादिको देखनेसे इन्द्रिय विषयोंकी बहुलताके कारण मन चंचल होसकता है। इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुये लिखा है कि—

स्त्रीपशुक्लीवसंसक्तरहितं विजनं मुनेः ।
सर्वदेवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥७७॥

अर्थात्—स्त्री, ग्राम, पशु, नपुंसक आदि के संसर्गसे रहित निर्जन वनमें मुनिको सर्वदा रहना चाहिये। उसमें भी खास करके ध्यान के समय तो ऐसा जङ्गल ही होना योग्य है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों प्रमाण ऐसे उपस्थित किये जासकते हैं जो मुनियोंको वनमें रहनेका विधान करते हैं। और नगरमें रहनेका निषेध करते हैं! यहाँ विस्तारभयसे उन प्रमाणोंका लिखा जाना कठिन है। इसलिये पंडित गजाधरलालजी शास्त्री लिखित 'चर्चा-सागरके शास्त्रीय प्रमाणोंपर विचार' नामक पुस्तक पढ़ जाइये। तब आपके मनका समाधान होजायगा। खेद है कि क्षुल्लक ज्ञानसागरजी आदि मुनियोंको वर्तमानके विषयी और विलासी जमानेमें भी घरों तथा धर्मशालाओंमें ठहरनेका और उनके दान करनेका भी उपदेश देरहे हैं! खेद!

क्षुल्लकजीका भयंकर द्रोह।

क्षुल्लकजीका आत्मा कितना द्रोह और द्वेषपूर्ण है, यह उनकी इस पुस्तकसे पद २ पर मालूम पड़ता है। किसी वस्तुका विरोध करना दूसरी बात है किन्तु उसेही बार २ जघन्यसे जघन्य

शब्दोंमें लिखते रहना कहांकी बुद्धिमानी है? आपको श्वेतांबर जैनोंसे और बोर्डिङ्ग तथा जैन स्कूलोंसे कितना द्रोह है यह पीछे बताया जा चुका है फिर भी क्षुल्लकजीने कईवार उसे दुहराया है। उस सबका बार २ उल्लेख करना मुझे ठीक नहीं मालूम होता। इसलिये उनके कुछ विद्वेषी हृदयके उद्गार लिखता हूँ। इनसे क्षुल्लकजीका विश्वबंधुत्व (?) स्पष्ट मालूम होजायगा। यथा

"जो दि० श्वेतांबर सबको एक समान गिनकर श्री जिनेन्द्र के स्वरूपको नष्ट करता है वह पापी है, निंदक है, मिथ्यादृष्टि है, और दीर्घ संसारी है!" (पृ० १५१)।

"जो दि० श्वे० सबको एक करना, मनमाना स्वरूप प्रगट करना चाहते हैं वे मिथ्यादृष्टि, जैन धर्मके द्रोही और दुर्गतिके पात्र हैं! उनको जैन कहनेमें भी भारी पाप होता है!" (पृ० १५२

और भी पृ० १६० पर इसी प्रकार कटुक शब्दोंका व्यवहार किया है! मैं पूछता हूँ कि महाराज! इतने द्वेषपूर्ण जघन्य शब्द श्वेतांबर भाइयोंके प्रति और किस दिगंबर शास्त्रसे लिखे हैं? यह आप दानविचार लिखने बैठे हैं या अपने जले दिलके फफोले फोड़ने? मैं भी तो दिगंबर जैन हूँ और आपसे कम धर्मप्रेम भी नहीं रखता हूँ। अथवा आपके अतिरिक्त और भी अनेक दिग्गज विद्वान दिगंबर जैन समाजमें पड़े हुये हैं फिर उन्हें किसीको क्यों इतना आवेश नहीं आया? क्षुल्लक पदपर आसीन होकर ऐसे अप्रिय कटुक कठोर शब्दोंका लिखना क्या शोभा देता है? यदि आपकी आत्मा सच्चे धर्ममें संयुक्त है तो आपको उक्त शब्दोंके लिये प्रायश्चित लेना चाहिये।

माना कि दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओंमें भेद है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें समभाव रखनेवाला पापी, निंदक, दीर्घसंसारी, जैनधर्मका द्रोही और दुर्गतिका पात्र

जायगा। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आप ऐसे लोगों को जैन कहनेमें भी पाप बतला रहे हैं! यह कहांका धर्मवात्सल्य है? क्या इसीको विश्वबन्धुत्व कहते हैं? क्या यही जैनधर्मकी व्यापकता है? क्या यही मानवधर्म है? क्षुल्लकजी महाराज! तनिक आँखें उघाड़कर देखो, जगत किस ओर जारहा है। इसे निहारो, और जैनधर्मके अनन्त प्रेमपर दृष्टिपात करो! इस प्रकार जैनधर्मके विश्वव्यापी सिद्धान्तको मत ठुकराओ, विद्वेषी आत्मापर विजय प्राप्त करो और धार्मिक उदारतासे काम लो! चूंकि आप क्षुल्लक पदपर आसीन हैं इसलिये वह पद मुझे पूज्य है। फिर भी आपके विद्वेषी हृदयको देखकर इतना लिखना पड़ा है। इसलिये मुझे क्षमा करें।

पाठशालाओंपर पुनः आक्रमण।

क्षुल्लकजीने जिस प्रकार श्वेतांबरोंपर पुनः पुनः आक्रमण किया है उसी प्रकार जैन बोर्डिङ्ग, पाठशाला, महाविद्यालय आदि पर भी आपने जहरीले उद्गार कईवार निकाले हैं। मैं पहिले उनकी कईवार समालोचना कर आया हूँ। किन्तु खेद है कि आपने वही बात आगे भी अनेक स्थानोंपर दुहराई है। मानों आपको जैन शिक्षा संस्थाओंसे ही कट्टर विद्वेष है।

यह बात तो निश्चित है कि—किसी भी जैन पाठशाला, स्कूल, या बोर्डिङ्गका उद्देश्य अथवा प्रयत्न धर्मका विनाश करनेका नहीं है। किंतु न जाने क्षुल्लकजीको इसके स्वप्न क्यों आ रहे हैं! आप लिखते हैं कि "ऐसी पाठशालाएं, ऐसे बोर्डिङ्ग, ऐसे स्कूल और ऐसे 'अनायतन कि जिनसे अधर्मका पोषण, सुधर्मका लोप, असदाचारकी वृद्धि, आगमका अनर्थ होता हो तो वे सब अपात्र हैं! अपात्रको दान देनेसे नरकादि दुर्गति होती है! अपात्रमें दान देकर जितना पाप संपादन करते हैं उतना पाप-कर्म व्यभिचार आदिसे भी नहीं होता!" इत्यादि (पृ० २५५-५६)

उक्त कथनसे क्षुल्लकजीकी आवेशमयी मूर्ति सामने आजाती

है। जैन पाठशालाओंको 'इतना अनाचारमय कल्पित करना, और फिर उन्हें अपात्र कहकर दाताको नर्क निगोदके दुःख तथा व्यभिचारसे भी अधिक पाप बताना किस कूड़ापंथका सिद्धांत है?

"दानका फल नरक निगोद न होय। तदुक्तं प्रवचनसार सिद्धान्ते कुन्दकुन्ददेवैः—

अविदियपरमत्थेसुय विषयकषायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुत्तं कदं य दत्त फलदि कुदेवेसु मणवेसु॥

अर्थ—नाहीं जान्या है परमार्थ जिनने ऐसे जु हैं अज्ञानी मनुष्य तिन विषैं, पुनः बहुरि जे विषय कषाय करि अधिक हैं तिन विषैं बहुत प्रीतिसे सेवना, वैयावृत्यादि करना, आहारदिका देना सो नीच देवनि विषैं नीच मनुष्यनि विषैं फले हैं!

(चर्चा समाधान पृ० ५७)

और भी जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि—"कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम्।" फिर समझमें नहीं आता कि जैन वार्डिङ्ग आदिको दान देनेमें क्षुल्लकजीने नर्क निगोद कैसे दिखा डाले! हद है इस महाविद्वेषकी।

गौदान भूमिदान सुवर्णदान।

क्षुल्लकजी मतलब आनेपर तो अधर्म अधर्म चिल्ला उठते हैं किन्तु स्वयं जब दुराग्रहके वश होकर मिथ्यात्वका विधान करने बैठते हैं तब आपको सिद्धांतका विचार ही नहीं रहता। आपने 'दानविचार' में 'कुदान' के प्रकरणमें पृष्ठ १६१ से लेकर पूरे ५ पृष्ठ भूमिदान, अश्वदान, हस्ती दान, गौदान, सुवर्णदान आदिमें भर दिये हैं। साथमें यह भी लिखा है कि विधर्मियोंको यह दान देना पाप है, किन्तु साधर्मियोंको देनेमें पुण्य है। क्षुल्लकजीकी यह कोरी कल्पना है। कारण कि साधर्मियोंकी 'समदत्ति' का दान नहीं कह सकते। वह तो सहयोगिताका व्यवहार है। परस्पर एक दूसरेमें यथासमय लेनदेनका व्यवहार रहता ही है।

क्षुल्लकजीने आगे चलकर जमाईको सुवर्ण, गौ, अश्व आदि १० दान देनेका विधान बताया है। किन्तु महाराज! जमाईको यह दान नहीं किंतु प्रेमपूर्वक भेट दी जाती है। अन्यमतावलम्बियोंकी भाँति जैनोंमें इसे दान नहीं कहते हैं। दूसरी बात यह है कि गौ, अश्व, पृथ्वी, या सुवर्ण दान चाहे समदत्तिमें हो या जमाई दत्तिमें हो, उससे दानका पुण्य कदापि नहीं होसकता। कारण कि इन वस्तुओंको देनेसे तत्कृत पीड़ा, प्रमाद या पाप नहीं रुक सकता। आचार्योंने लिखा है कि—

पीड़ा सपद्यते यस्य वियोगे गोनिकायतः।
पयाजीवा निहन्यन्ते पुच्छशृंगखुरादिभिः ॥५३॥
यस्यां च दुह्यमानायां तर्णकः पीड्यतेतराम्।
तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥५४॥

—अमितगति श्रा० परि० ९ ॥

यहांपर गौदान देनेमें पापके जो कारण या हेतु प्रगट किये हैं वह यह हैं कि—१—गायोंके समूहसे अलग होनेके कारण पीड़ा होती है। २—गायके पूंछ, सींग, खुर आदिसे जीव मरते हैं। ३—गायके दुह लेनेसे बच्चा बहुत दुःखी होता है। इसलिये गौदानमें तनिक भी पुण्य नहीं है।

अब यहां विचारना यह है कि ऊपरके तीन हेतु सर्वत्र लागू होते हैं। मिथ्यादृष्टिको न देकर सम्यग्दृष्टि, साधर्मी, जमाई या मन्दिरको गाय देनेपर भी वहां कुछ गायका वियोग तो मिटा नहीं दिया जायगा। उसके सींग पूंछ तो वहाँ भी हिलेंगे ही, कोई बांधके थोड़े ही रक्खेगा। दूध लगानेसे बच्चा दुखी वहां पर भी होगा। तब समझमें नहीं आता कि क्षुल्लकजी साधर्मी या जमाई आदिके लिये गौदान पुण्यका कारण कैसे बता रहे हैं।

यही सब बातें सुवर्णदान, भूमिदान, आदिमें भी लगाई जासकती हैं। इनको अन्यत्र देनेसे जो बात होगी वही सर्वत्र

लागू होता है। इसलिये यह कुदान ही हैं। जैनधर्ममें कभी मान्य नहीं होसकते! यहाँ तो चारदान ही धर्मके कारण बतलाए गए हैं। यथा—

चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्र-
दानानि तानि कथितानि महाफलानि
नान्यानि गोकनकभूमिरथांगनानि।
दानानि निश्चितमवद्यकराणि तस्मात् ॥ ५० ॥

—पद्मनन्दिपच्चीसी पृ० १३४।

अर्थात्—अभय, औषधि, आहार और शास्त्र इस प्रकार चार दान हैं। उनका महाफल होता है। किन्तु इससे भिन्न गौ, सुवर्ण, भूमि, रथ, स्त्री आदि दान महापापके कारण हैं। चार दानके सिवाय और दान हो ही नहीं सकते।

यदि और भी गौ दानादि साधर्मियोंके लिये अभीष्ट होते तो आचार्य उतना स्पष्टीकरण अवश्य कर देते। आशा है कि क्षुल्लकजी अपना हठ छोड़कर सत्यकी शरण लेंगे।

यदि आप हरिवंशपुराणके सर्ग ६० श्लोक १३-१४ को देखेंगे तो मालूम होगा कि विप्रमुण्डशायनने प्रजाको गौदान पृथ्वीदान आदि सिखाया जिससे वह सातवें नरकमें गया! अब बताइये कि क्षुल्लकजी इस घोर नरकके कारणभूत गौदान को पुण्यका कारण कैसे और किस बिर्तेपर लिख रहे हैं!

आचार्य श्री अमितगति महाराज अमितगतिश्रावकाचारमें लिखते हैं कि—

दीयते गृह्यते सा गौ कथं दुर्गतिगामिभिः ॥ ८-५५॥

अर्थात्—दुर्गतिगामी पुरुष गौदान कैसे करते होंगे और लेने वाले कैसे लेते होंगे? यहां गौदानको दुर्गतिका कारण बताया है। क्षुल्लकजीने सुवर्णदानके भी खूब गीत गाये हैं। मगर श्री अमितगति आचार्यने श्रावकाचारमें स्पष्ट लिख दिया है कि—

तद्येनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया ।
स तस्याष्टापदं मन्ये दत्तो जीवितशांतये ॥ ९-५०॥

अर्थात्—जैसे कोई किसीको हिंसक अष्टापद (सिंह) देता है और वह उसका जीवन नाश कर देता है उसी प्रकार हितकी इच्छासे अष्टापद (सुवर्ण) दान करना भी जीवन नाशका कारण है ! इसी प्रकार ८—४६ में भूमिदान को भी पापका कारण बताया गया है, फिर न जाने क्षुल्लकजी इनका विधान करनेको कैसे उद्यत हुए हैं ! आगमकी ओटमें इस प्रकार का मिथ्या प्रचार होते हुए देखकर किस साधर्मीको आघात न होगा ।

विजातीय विवाह आगम का खून करना है !!!

हालां कि कई प्रमाणों, युक्तियों और उदाहरणोंसे यह सिद्ध है कि विजातीयविवाह करना धर्मसंगत है, फिरभी क्षुल्लकजी अत्यन्त आवेशमें आकर लिखते हैं कि "जो लोग विजातीयविवाह का उपदेश देते हैं वे तो आगमका ही पूर्ण रूपसे खून करना चाहते हैं !" (पृ० १३४) । अहा ! क्षुल्लकजीके यह कैसे हितमित प्रिय (?) वचन हैं । यदि आप आवेशको छोड़कर विचार करेंगे तो भूल मालूम हुए बिना नहीं रहेगी । शास्त्रोंमें विजातीय विवाहके सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं । मात्र हरिवंशपुराणको ही उठाकर देखिये—

१—चारुदत्त सेठ वैश्य था (सर्ग १९ श्लोक १२२) मगर उसकी लड़कीके स्वयंवरमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य आये थे (१९—१२६) अन्त में कुमारी गन्धर्वसेना (वैश्य) ने राजा वसुदेव (क्षत्रिय) को वरा था । (१९-२६२) ।

२—उपाध्याय (ब्राह्मण) यशोग्रीवने अपनी दोनों कन्यायें क्षत्रियकुमार वसुदेव को विवाह दीं । (१९—२६२)

३—ब्राह्मण कुलमें क्षत्रिया माता से उत्पन्न हुई कन्या सोम-

भीसे क्षत्रिय कुलोत्पन्न वसुदेव ने विवाह किया। (२३-१४९)

४—सेठ कामदत्त (वैश्य) ने अपनी पुत्री बंधमतीका विवाह क्षत्रिय पुत्र वसुदेव के साथ कर दिया। (२९-११)।

५—जंगल में घूमते हुये वसुदेवके साथ म्लेच्छ राजा ने अपनी कन्या जराका विवाह कर दिया। उससे महापुरुष जरत्कुमार हुये। (३१-६)

६—सोमशर्मा ब्राह्मण की कन्या सोमा क्षत्रिया से उत्पन्न हुई थी। उसके साथ क्षत्रियपुत्र गजकुमार का विवाह हुआ। (६०-१२८)

इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंमें भी सैकड़ों उदाहरण विजातीयविवाहके मिलेंगे ! यथा—१—श्रेणिक महाराज (क्षत्रिय) का विवाह ब्राह्मणकी लड़की नन्दश्री से हुआ था। २—अपनी (क्षत्रिया) पुत्री वैश्यकुमार धन्यकुमार को दी थी। ३—राजा उपश्रेणिकने भीलकी लड़की तिलकवतीसे विवाह किया था।

तब कहिये क्षुल्लकजी महाराज ! आगमका खून आप कर रहे हैं या विजातीयविवाहका उपदेश करनेवाले ? क्षुल्लक पद लेकर शास्त्रोंके इन स्पष्ट विधानोंपर दुर्लक्ष्य करके ऐसे भद्दे, निंद्य और कठोर वचन लिखते हुये क्यों संकोच नहीं होता है !

आपको जो 'अथ कन्या सजातीया' के स्वप्न आरहे हैं सो महाराज ! कृपा करके बताइये तो सही कि किस आगमग्रन्थमें आपकी पद्मावतीपुरवाल, खण्डेलवाल, गोलालारे, परवार, हूमड़ या अग्रवाल आदि जातियाँ लिखी हैं ? जब इनका कोई उल्लेख ही नहीं है तब इन कल्पित जातियोंका पक्ष लेकर धर्ममार्गको क्यों बिगाड़ते हैं ?

मृतक भोजका समर्थन।

जब कि देश और समाजके उत्साही युवक मृतक भोज (नुक्ता तेरई या बारमा) का विरोध करके उसे बन्द करा रहे हैं तब क्षुल्लकजी लिखते हैं कि "मृतककी शुद्धिके लिये अपने

साधर्मी भाइयोंको आहारदान कराना भी समदत्ति है। यह समदत्ति पात्रदत्तिके अभ्यन्तर ही है।" (पृ० १६५)।

उधर तो क्षुल्लकजी जैन स्कूलों और जैन बोर्डिङ्गोंको दान करना अपात्रदान बतला रहे हैं और इधर मरण भोजनमें लोगों को लड्डू खिलाना पात्रदानके अन्तर्गत बता रहे हैं, यह कितना जघन्य स्वेच्छाचार है! धर्मशास्त्रोंमें मरणभोजका कोई उदाहरण भी नहीं मिलता है फिर न जाने क्षुल्लकजी तेरई करनेमें पात्रदान कैसे बता रहे हैं।

शास्त्रोंमें पात्रदान करना पुण्य और भाग्यका विषय बताया गया है। तब तो किसीका पति या पुत्र मर जावे तो उसकी पत्नी या पिताको मरण भोज करके पात्रदत्तिका अवसर मिले तो इसे पुण्योदय या सौभाग्यका विषय समझना चाहिये! एक ओर तो जवान पुत्र मर जाय, उधर यौवन सम्पन्न पुत्रवधू होकर गगनभेदी रुदन कर रही हो, और एक ओर सारा कुटुम्ब हाय हाय कर रहा हो तब क्षुल्लकजी ऐसे समयमें साधर्मी भाइयों को लड्डू खिलाकर पात्रदत्तिका पुण्य कमानेका आदेश कर रहे हैं, यह कितने शर्मकी बात है! क्या क्षुल्लकजी इसे ही धर्म मार्ग कहते हैं? क्या यही अहिंसाका विषय है? और क्या 'दानविचार' पुस्तक लिखकर ऐसे अनर्थोंकी पुष्टि करना ही आपका अंतरंग हेतु है? खेद!

क्षुल्लकजीका गोबराध्याय।

चर्चासागरके समान दानविचार भी गोबरसे अछूता नहीं रहा है। क्षुल्लकजीने उसमें भी गोबर मिला दिया है! इस विषय में पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है फिर भी क्षुल्लकजी ने पृ० १७९ से ६ पृ० काले किए हैं। इसके लिये किसी भट्टारकीय 'प्रतिष्ठापाठ मसजिद खजूर' का श्लोक प्रमाणमें पेश किया है! उससे वेदीको गोबरसे लीपनेका समर्थन किया गया है। भला ऐसे भ्रष्ट विधान भट्टारकीय प्रतिष्ठापाठोंके अतिरिक्त और

कहाँ मिलेंगे ? उन प्रतिष्ठापाठोंमें तो गोबरसे भगवान्की पूजा और गोमूत्रसे अभिषेक करनेकी भी आज्ञायें हैं। तथा क्षुल्लकजी इसे आर्षमार्ग बतलाते हैं। अब कहिये कि ऐसे विकृत मस्तिष्कों की क्या दवाई है ?

ऐसे भ्रष्टाचार पोषक प्रतिष्ठापाठोंके नामपर चाहे जो कुछ भी लिखा जाय इसको मुझे कतई चिन्ता नहीं है, मगर दुःख तो इस बातका है कि क्षुल्लकजीने इस मार्गकी श्लोकवार्तिक आदि आर्षग्रन्थोंके बलपर भी सिद्धि करनेका दुस्साहस किया है। दानविचारके पृष्ठ १८१ पर श्लोकवार्तिकके २ श्लोक उद्धृत करके उनका अनर्थ कर डाला है। किन्तु वह बिलकुल गलत और असंगत है।

पाठक उन श्लोकोंको देखकर असली अर्थ समझ सकेंगे। वह इस प्रकार है—

तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखण्डकम् ॥ २ ॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबूफलादिकम्।
प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥ ३ ॥

क्षुल्लकजीने इन श्लोकोंका अर्थ इस प्रकार किया है कि— "नदीके झरनेका जल, सूखे गोबरका टुकड़ा (कण्डा--उपला) भस्मादिक अपने आप मयूरद्वारा छोड़ी हुई उसकी पिच्छल सूखी तुम्बी आदि प्रासुक चीजें हैं वे मुनीश्वर बिना अन्यके दिये ग्रहण करें"।

क्षुल्लकजीका यह अर्थ कहाँतक संगत है, यह विद्वान लोग भलीभाँति जान गये होंगे। मैं क्षुल्लकजी महाराजसे पूछता हूं कि पानी, भस्म, पिच्छलें और तुम्बी तो ठीक है, मगर मुनिको सूखे गोबरके टुकड़े (कण्डा--उपला) की क्या आवश्यकता है ? क्या मुनिराज उनपर रोटी बनाते हैं ? या बाटियां बनाते हैं ? अथवा उन्हें सुलगाकर तापते हैं ? कहिये तो सही कि उन्हें कण्डोंकी क्या जरूरत होती है ? सच बात तो यह है कि आपने

गोबर ग्राह्य और मुनिके द्वार लेने योग्य पवित्र सिद्ध करनके लिये श्लोकवार्तिकके उक्त श्लोकोंके अर्थमें उलट पुलट कर दिया है जो कि आपकी शास्त्रीयता और पदको शोभा नहीं देता।

वास्तवमें बात यह है कि मासोपवासी महामुनि यदि नगर में न आवें तो उनका कार्य जंगलमें ही चल सकता है। क्योंकि मुनियोंको चार चीजोंकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। १ कमंडल, २ पीछी ३ जल ४ भस्म, (शौचशुद्धिके लिये) इसलिये मुनिराज नदीके झरने आदिका जल, सूखी तुम्बी, सूखे हुए गोबर के टुकड़े (कंड) की भस्म और मयूरपिच्छ जंगलमें से ही लेलिया करते हैं। यहाँपर' शुष्कगोमयखंड' विशेषण है और भस्म विशेष्य है। अर्थात् सूखे गोबरके कण्डोंको पड़ी हुई राख हाथ धोनेको ले लिया करते हैं, न कि गोबर के टुकड़े! सूखे गोबर की राखका निर्देश इसलिये किया है कि यदि वे मिट्टी खोदकर लेंगे तो उसमें प्रमादचर्या अथवा एकेन्द्रियादि प्राणियोंके वधकी आशंका रहतीहै।

इसके अतिरिक्त कण्डोंकी राख बनमें प्रायः मिलना सुलभ भी था। कारण कि इधर उधरसे जाने आनेवाले बटोही जङ्गलमें कण्डा थापकर रसोई बनाते थे और उनकी राख पड़ी रह जाती थी। उसीको लेनेकी आज्ञा श्लोकवार्तिकमें बतलाई है। वह भी साधारण मुनिको नहीं, किन्तु जो मासोपवासी हो। इसीलिये श्लोकमें 'सन्मुनेः' ऐसा पद दिया है। इससे सिद्ध होता है कि विद्यानंदि आचार्यका मतलब राखसे था न कि आपके पवित्र (!) गोबरसे! क्षुल्लकजीने जो गोबरके टुकड़े और भस्म अलग २ बतलाई है वह अर्थ संगत ही नहीं बैठता, कारण कि मुनिराजको कण्डोंकी क्या जरूरत है? कारण कि गोबरसे हाथ तो धोये नहीं जाते। किन्तु आपने जानबूझकर आचार्यके सत्यार्थको पलटनेका प्रयत्न किया है, जो कि सर्वथा अनुचित है।

इसी प्रकार क्षुल्लकजीने पृष्ठ १८२ पर दूसरा प्रमाण राजवार्तिकका देकर बहुत ही अनर्थ किया है। आपने उसमेंकी आठ

प्रकारकी लौकिक शुद्धियाँ लिखकर गोबरको शुद्ध सिद्ध करना चाहा है। किन्तु यह मात्र चालाकीके और कुछ भी नहीं है। कारण कि यहाँपर अशुचि भावनाका प्रकरण चल रहा है। वहाँ-पर लिखा है कि—

"लौकिकशुचित्वं अष्टविधं कालाग्निभस्ममृत्तिका-गोमयसलिलज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्। तदिदं शरीरं शुचीकर्तुं नालं, कुतः ? अत्यंताशुचित्वात्॥"

(राजवार्तिक पृष्ठ ३२८)।

यहाँपर बताया है—हालां कि लौकिक शुचिता आठ प्रकारकी मानी जाती है; किन्तु वह शरीरकी शुद्धि तो कर ही नहीं सकती, कारण कि वह अत्यन्त अपवित्र है।

जब कि यहाँपर इन लौकिक शुद्धियोंसे शरीरकी शुद्धि होना असंभव बताया है तब चुल्लक ज्ञानसागरजी इसका घोर अनर्थ करके गोबरसे मुनियोंका शरीर शुद्ध करना बता रहे हैं! स्वार्थ-सिद्धि के लिये आगमका अर्थ और भावार्थ बदल देना कितना निद्य कर्म है! चुल्लकजीने अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये वार्तिक पूरी न लिखकर उसका उत्तरार्ध जानबूझकर छिपाया है। इसी प्रकार पृष्ठ १८३ पर दिया गया चारित्रसारका प्रमाण भी मालूम होता है।

आपने पं० सदासुखजीका जो प्रमाण पेश किया है, उसमें भी तो यही बात लिखी है कि "ये आठ शौच शरीरके पवित्र करनेकूं समर्थ नही हैं।" मगर चुल्लकजीने यही प्रमाण गोबरको शुद्ध बतानेके लिये पेश किया है! किसीके वाक्योंको तोड़ मरोड़-कर अन्यथा बताना महान् दुष्कर्म है। चुल्लकजी गोबरको हर जगह लौकिक धर्म (?) लिख रहे हैं, किन्तु शास्त्रोंमें कहीं भी उसे धर्म नहीं माना है।

जिनमंदिरमें गोबर और गोमूत्रका सिंचन !!!

गोबरप्रेमी चुल्लकजीने पृष्ठ १८० पर तो यहाँतक लिख

डाला है कि "जिनभवनके प्रांगणको पवित्र (?) गोबर गोमूत्र दधि-दुग्ध गंधोदकसे भूमिको सिंचन करावे !"

पाठको ! इस अघोर पंथका भी कोई ठिकाना है ? जो गोबर और गोमूत्रको पवित्र मानता है तथा उससे जिनालयमें छिड़काव कराना चाहता है-इतना ही नहीं किन्तु जो जिन मूर्तिको गोबर से पूजा करने और गोमूत्रसे अभिषेक करने तकके लिये सहमत है उसे क्षुल्लक कैसे माना जावे ! भगवान जिनसेनाचार्यने आदिपुराण में भूमिशुद्धिके लिये न तो गोबर ही बताया है और न गोमूत्र ! उन्होंने तो मात्र जलसे ही भूमिशुद्धि का विधान किया है । यथा--

जलेन भूमिबंधार्थं परा शुद्धिस्तु तत्फलं ।

—पर्व ४० श्लो० ५ पत्र १४२३ ।

फिर समझमें नहीं आता कि ज्ञानसागरजीने जिनमंदिरका आंगन शुद्ध करनेके लिये गोबर और गोमूत्रका सिंचन करना कैसे लिख डाला ! इसके समर्थनमें किसी भी ग्रन्थका प्रमाण दिया जाय, कितना ही गड़बड़ या उलट पुलट अर्थ किया जाय किन्तु वह आर्ष ग्रन्थ नहीं होसकता । कारण कि जैनागम इस अघोर पंथसे बहुत दूर है ! जैनसमाजको सचेत होकर सत्य और असत्यकी पहिचान करना चाहिये ।

सज्जातित्वकी ओटमें

क्षुल्लकजीने सज्जातिके प्रकरणमें वही पुराने निःसार गीत गाए हैं । आप लिखते हैं कि "जिन जातियोंमें विजातीय स्त्री (कन्या) के साथ विवाह होता है वे जातियां असज्जाति कहलाती हैं ! ऐसी जातियोंको तथा उनकी संतानको जिनदीक्षादि उत्तम कार्य करनेका अधिकार नहीं है ! खंडेलवाल, पद्मावतीपुरवाल, परवाल, अगरवाल, पल्लीवाल आदि अनेक जाति हैं । प्रत्येक जातिको अपनी ही जातिमें विवाह सम्बन्ध करनेपर सज्जातित्व रहता है । एक जाति दूसरी जातिमें विवाह संबंध करलेनेपर उनका सज्जातित्व नष्ट होजाता है ।" (पृ० १८५)

मैं क्षुल्लकजीसे पूछता हूं कि महाराज ! यह आपने किस शास्त्राधारसे लिखा है ? क्या किसी भी जैन आचार्यकृत शास्त्रमें यह खंडेलवाल, पद्मावतीपुरवाल आदि जातियां पाई जाती हैं ? क्या इन्हींके सम्बन्धको सज्जातित्वपना कहते हैं ? इतनी सफेद झूठ तो अब नहीं चल सकेगी। अब 'सत्यवचन महाराज' का कोरा अंधश्रधालु जमाना गया ! अब यहां किसीके गप्पगोले नहीं चल सकते हैं। कमसेकम आप इतना तो बताइये कि महाराजा भरत उक्त वालोंमेंसे किस वालके थे ? जबकि उन्होंने क्षत्रियऔर वैश्य तथा शूद्रों की भी कन्याओं के साथ विवाह किया था तब क्या उनका सज्जातित्व नष्ट होगया था ? कारण कि म्लेच्छों और शूद्रोंमें भारतकी सजातीय कन्यायें तो थीं ही नहीं, फिर भी वे उन्हें विवाह लाये थे। तब तो वे आपके कथनानुसार असज्जातीय होगये। तब उन्हें मुनिदीक्षा लेनेका अधिकार नहीं रहना चाहिये था। किंतु वे मुनि होकर मोक्ष पधारे हैं ! अब कहिये महाराज ! आपका वह सज्जातित्व और बावालोंका कल्पित कथन कहां रहा ?

देखिये—म्लेच्छकी कन्या जरासे श्री नेमनाथ भगवानके काका वसुदेवने विवाह किया था। जिसमें जरत्कुमार उत्पन्न हुये और वे विजातीय म्लेच्छ कन्या से उत्पन्न होकर भी मुनि हुए तथा स्वपर कल्याण किया। तब क्षुल्लकजीका यह लिखना कि 'विजातीय कन्यासे उत्पन्न हुई संतान भी मुनिदीक्षा नहीं ले सकती' कहांतक ठीक है ? क्या क्षुल्लकजी इन्हें सज्जातित्व विहीन मानते हैं ? यदि उनका सज्जातित्व नष्ट होगया था तो उनने मुनिदीक्षा कैसे ग्रहण की थी ? आगमकी परवाह न करके यद्वा तद्वा लिख मारना क्षुल्लकके पूज्यपदको कलंकित करना है !

खण्डेलवाल, पद्मावतीपुरवाल आदि वालोंकी बात तो दूर रहो, मगर शास्त्रोंमें तो वर्णान्तरकी कन्यायें लेनेका भी स्पष्ट कथन पाया जाता है। और वे वर्णान्तर विवाह करनेवाले

महापुरुष मुनि होकर मोक्ष पधारे हैं ! तब क्षुल्लकजीके निराधार एवं उच्छ्रंखल कथन की क्या कीमत रह जाती है ?

उत्तम दीक्षाका अधिकार ।

क्षुल्लकजीने सज्जातिकी भांति दीक्षाका प्रकरण भी युक्ति प्रमाण तथा आधारसे रहित एवं आगमकी परवाह न करके यद्वा तद्वा लिख मारा है । आप फरमाते हैं कि 'जिसकी माता विजातीय होनेसे मलिन न हो वह कुल जाति और वर्णसे शुद्ध कहलाता है । उसे ही उत्तम दीक्षा धारण करनेका अधिकार है ।
(पृष्ठ १८९)

इसका उत्तर भी पूर्व प्रकरणमें प्रायः होचुका है । देखिये— वसुदेव क्षत्रिय थे, जरा म्लेच्छ जातीया थी, उससे उत्पन्न हुये जरत्कुमारकी माता विजातीय कहलाई । तब क्षुल्लकजीके कथनानुसार जरत्कुमारको दीक्षा लेनेका अधिकार नहीं होना चाहिये था । किन्तु वे मुनि हुये थे । (देखो हरिवंशपुराण पर्व ३१)

क्षुल्लकजीने इस दीक्षा प्रकरणमें जैनधर्मको बहुत ही संकुचित बतानेका प्रयत्न किया है और उसकी मिट्टी पलीत की है । जिस विशाल एवं पतितपावन जैनधर्ममें महा दुराचारी व्यक्ति भी पवित्र हो सकते हैं, और पवित्र होकर धर्मगुरु बन सकते हैं वहां क्षुल्लकजी उपजातियोंमें विवाह करलेने वालोंको दीक्षाका अनधिकारी बतलाते हैं ! इस बेलगाम कथनका भी कोई ठिकाना है ? देखिये--

गजकुमारका जन्म वासुदेव (क्षत्रिय) की रानी गंधर्वसेना (वैश्यपुत्री) से हुआ था । इस प्रकार गजकुमारके पिता क्षत्रिय और माता वैश्या थी । तत्पश्चात गजकुमारका विवाह सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री (जोकि क्षत्रिया मातासे उत्पन्न हुई थी) सोमाके साथ हुआ था । (देखो हरिवंशपुराण पर्व ६० श्लोक १२८) फिर भी विजातीय मातासे उत्पन्न और विजातीय कन्यासे विवाह करनेवाले गजकुमार महामुनि होकर स्वर्ग पधारे ! किंतु क्षुल्ल

कजीके उपर्युक्त कथनानुसार तो उन्हें दीक्षा लेनेका कोई अधिकार ही नहीं था। यदि कोई कुतर्क करे कि दीक्षा देनेवावालेको पता नहीं होगा कि गजकुमार कैसे व्यक्ति हैं सो भी ठीक नहीं है। कारण कि उन्होंने भगवान नेमिनाथस्वामीके पास दीक्षा ली थी जोकि सर्वज्ञ थे। क्या भगवानका ज्ञान क्षुल्लकजीसे भी कम था? यदि नहीं तो यह दुरभिनिवेश क्यों नहीं छोड़ दिया जाता है?

क्षुल्लकजी आगे चलकर फरमाते हैं कि—"दस्सा तो मुनिदान और मुनि दीक्षाके अधिकारी हैं हो नहीं। दस्साओंकी तो पिण्डशुद्धि भी नष्ट होजाती है।" (पृष्ठ १९२)

इसमेंभी आप कोई प्रमाण पेश नहीं कर सके हैं! जैसा जो मनमें आया वही आगमके नामपर लिखकर निर्मल जैन शासनको कलङ्कित किया है। यदि आप मात्र हरिवंशपुराणको ही निष्पक्ष होकर देख जावें तो मालूम हो जायगा कि दस्साओंने मुनियोंको दान देकर पुण्य कमाया है और वे स्वयं मुनि होकर स्वर्ग और मोक्षमें पधारे हैं। जैनधर्म शरीरका धर्म नहीं किन्तु आत्माका धर्म है। इसके लिये राजा सुमुखकी कथा ही पर्याप्त होगी।

सुमुख राजाने वीरक सेठकी पत्नी बनमाला को अपने घरमें रखली और उसके साथ सम्भोग करता रहा। ऐसी परिस्थितिमें दोनों विनैकावार या दस्सा कहे जाने चाहिये। कारण कि ऐसे लोगों को ही वर्तमान में दस्सा कहते हैं। जब महाज्ञानी मुनि-राज आहारार्थ नगरमें पधारे तब राजा सुमुख और बनमालाने मिलकर उनको अहार दिया। इससे दोनों ने पुण्य का संचय किया और मरकर विद्याधर विद्याधरी हुये। इन्हींसे 'हरि' नामक पुत्र हुआ था जिससे 'हरिवंश' की उत्पत्ति हुई थी। ऐसे दस्साओं से आहार लेकर न तो मुनी महाराजने कोई प्रायश्चित लिया और न दाताओंको पापका बन्ध हुआ। (देखो हरिवंशपुराण सर्ग १४ श्लोक ४७ से सर्ग १५ श्लोक १३ तक)।

और भी देखिये—सात्यकि मुनि और ज्येष्ठा आर्यिकाके संयोग से रुद्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। उसे आजकलकी मान्यतानुसार दस्सा कहना चाहिये, और क्षुल्लकजी के कथनानुसार उसकी पिण्डशुद्धि नहीं मानी जासकती। फिर भी वह रुद्र दिगम्बर मुनि होगया (प्रमाणके लिये देखो आराधना कथाकोषकी कथा ३७)। क्या क्षुल्लकजी इसका उत्तर देंगे कि ऐसे दस्सा या अशुद्ध पिण्डवाले व्यक्तिको मुनि दीक्षा कैसे दे दीगई ?

अब तनिक कार्तिकेय मुनिकी कथापर भी विचार करिये दुराचारी राजा अग्निदत्तने अपनी पुत्री कृत्तिकासे दुराचार किया। उससे कार्तिकेय उत्पन्न हुए। ऐसी अवस्थामें उन्हें दस्सा और अशुद्ध पिण्डवाला कहना चाहिये। लेकिन वही कार्तिकेय दिगम्बर दीक्षा लेकर जैनोंके महान् आचार्य हुये और अन्तमें स्वर्ग पधारे हैं। (देखो आराधनाकथाकोशकी कथा ६६)।

तात्पर्य यह है कि जिस पतितपावन जैनधर्म पर क्षुल्लकजी महाराज संकीर्णताका कलंक लगाना चाहते हैं वह दस्सा, बीसा, पतित, अपतित, तथा दुराचारी, सदाचारी सभीको सत्य मार्गपर लगाकर उसका कल्याण कर सकता है। यहाँपर शरीर सम्बन्धी या जाति सम्बन्धी कोई भी पक्षपात नहीं है। इस विषय के तो सैकड़ों शास्त्रीय दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

अन्तिम निवेदन

सच बात तो यह है कि कल्पित जातियों के दुरभिमान में आकर क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ने जिस चाहे व्यक्ति को धर्म का अनधिकारी, मिथ्यादृष्टि' परमात्मा, निंद्य, नरकगामी और न जाने क्या २ लिख मारा है। इस प्रकार अपने मन्तव्यकी पुष्टि करनेके लिये आपने 'दानविचार' नामक पुस्तक तैयार कर दी है। इस पुस्तकका अन्तरंग कितना कलंकित है यह इस संक्षिप्त विचारसे जनता निर्णय कर सकेगी। विस्तारभयसे अनेक बातें तो छोड़ दी गई हैं और कितनी ही बातोंपर बहुत संक्षेपमें

विचार किया गया है। क्षुल्लकजीकी प्रत्येक बातकी समालोचना कहाँ तक की जावे ? आपने तो विशुद्ध जैन साहित्यका कषाय पूर्ण भावोंके कारण कलंकित कर देनेकी ही ठानी है। इसीलिये तो आगमके नामपर इन महापुरुष (?) द्वारा चर्चासागर, सूर्य-प्रकाश, यज्ञोपवीत संस्कार आदिका भी प्रचार या प्रकाशन कराया जाचुका है।

खेदका विषय है कि क्षुल्लकजीका यह विषैला साहित्य आचार्य शांतिसागरसंघका आश्रय लेकर सर्वत्र फैलाया जारहा है और संघ सब कुछ जानते हुये भी इसका विरोध नहीं करता है। विरोध करना तो दूर रहा मगर संघके द्वारा स्वयं भी इस साहित्यका प्रचार किया जारहा है। कुछ समय पूर्व भट्टारकीय शासनमें ऐसे ही शिथिलाचारी ग्रन्थोंका निर्माण हुआ था। वही ग्रन्थ आज निमित्त पाकर प्रचारमें लाये जारहे हैं। तथा ऐसे ही ग्रन्थोंका नूतन निर्माण भी होरहा है।

इस समय आ० शान्तिसागरजीका कर्तव्य था कि दिगम्बर पदपर आसीन होकर ऐसा शिथिलाचारी साहित्य नहीं फैलने देते मगर आप बिलकुल चुप हैं। इससे सिद्ध है कि आचार्य संघ भी इस भयानक साहित्यसे सहमत है। यदि यह बात सत्य है तो जैन समाजको सचेत होकर उचित उपाय करना चाहिये। अन्यथा भगवान कुन्दकुन्द और अकलंकका निष्कलंक मार्ग कलंकित हुये बिना नहीं रहेगा। तब यह जानना कठिन होजायगा कि सत्य सिद्धांत क्या है ? मुझे तो 'दानविचार' और 'चर्चा-सागर' आदि को देखकर महान् दुःख होता है और वही प्रसिद्ध श्लोक याद आजाता है कि—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतं॥

आशा है कि इस पुस्तक से जैन समाज लाभ उठा येगी। और धोखे से सावधान रहेगी।